वेदस्तुतिकी भूमिका

(प्रथम भाग)

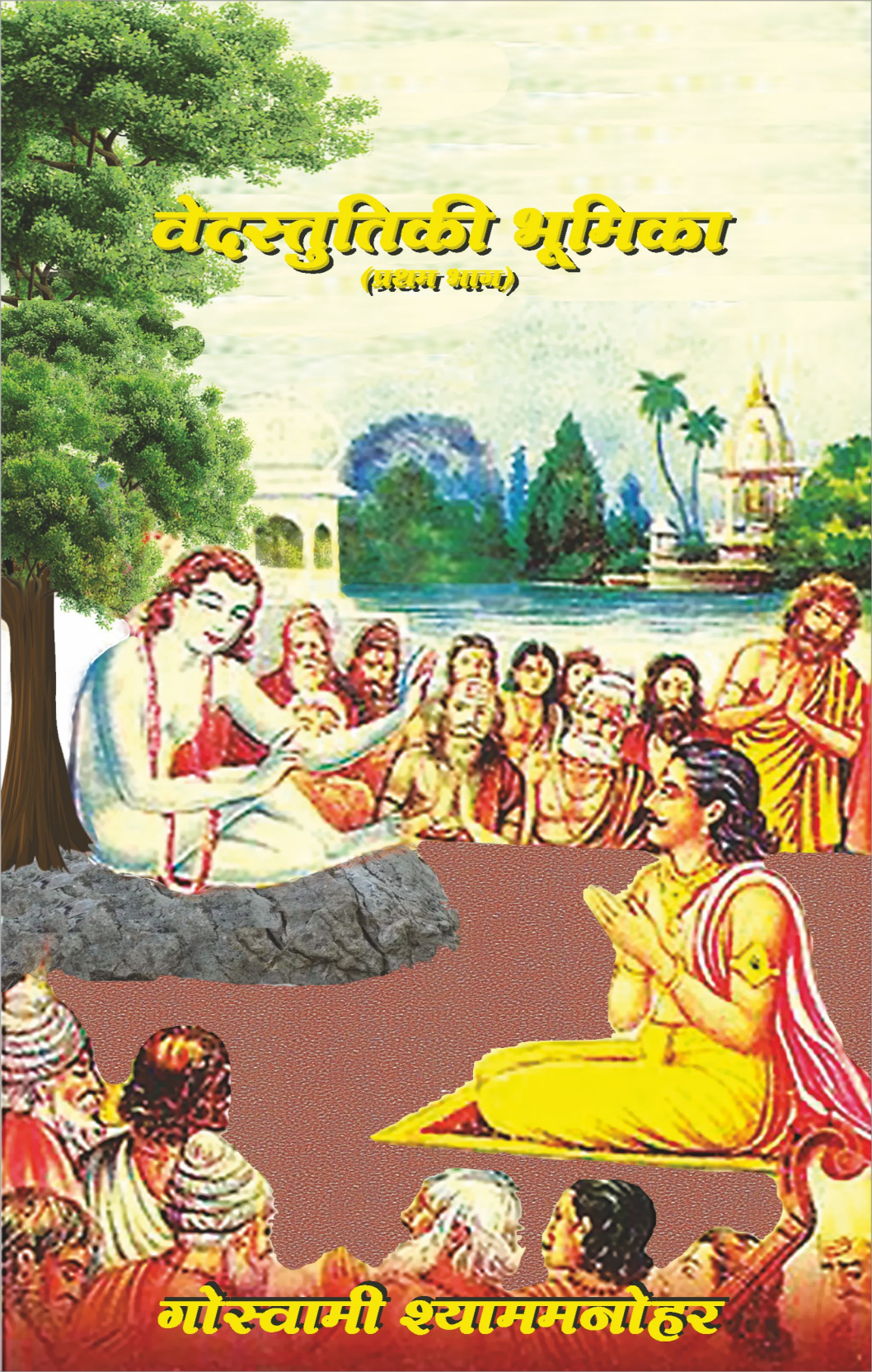

गोस्वामी श्याममनोहर

।। वेदस्तुतिकी भूमिका ।।

(प्रथम भाग)

गोस्वामी श्याममनोहर

प्रकाशक :

गोस्वामी श्याममनोहर.
८०३, एक्मे रिजन्सी,
एस.वी.रॉड्
विले-पार्ला, मुंबई.४०००५६

प्रकाशनार्थ आर्थिकसहयोग :

श्रीप्रणीतभाई तन्ना,बोरीवली.
श्रीबिरेन्द्रजी सिंघ,जयपुर.
श्रीलक्ष्मीदास कापडिया, कोल्हापुर.
श्रीमतीकल्पनाबेन काणकिया, विलेपार्ले.
श्रीमतीभावनाबेन अजितभाई पूजारा,कांदिवली.

प्रवचनकार : गोस्वामी श्याममनोहर

प्रथमसंस्करण : कसुंबा छठ, वि.सं.२०७९

निःशुल्कवितरणार्थ

प्रति : ५००

मुद्रक :

पूर्वी प्रेस,
गोंडल रोड्, राजकोट
गुजरात.

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी-कच्छ

ग्रन्थप्रकाशन :

साम्प्रदायिक परीक्षाकी पाठ्यपुस्तकें:

प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (गुजराती)	१०	प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (हिन्दी)	निःशुल्क
प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (अंग्रेजी)	निःशुल्क	पुष्टिप्रवेश १-२ ले. : गो.शरद् (गुज)	२०
पुष्टिप्रवेश-१-२, ले. : गो.शरद् (हिन्दी)	१०	पुष्टिपथ, ले. : गो.शरद् (गुजराती)	३०
पुष्टिपथ, ले. : गो.शरद् (हिन्दी)	२०	प्रमेयरत्नसंग्रह, ले. : गो.शरद् (गुजराती)	५०

Manual of the Devotional Path of Pushti, गो.शरद् ६५

साम्प्रदायिक विचारगोष्ठी

वार्तापरिचर्चा	अप्राप्य	साधनाप्रणाली संगोष्ठी	अप्राप्य
अधिकारपरिचर्चा	दुर्लभ	पुष्टिभक्तिमें कथासाधना संगोष्ठी	अप्राप्य
शरणागति विचारगोष्ठी	५०	सेवा-समर्पण विचारगोष्ठी	५०
पुष्टिभक्ति तथा प्रपत्तिमें प्रतिबन्ध	१००	जघन्याधिकार विचारगोष्ठी	८०
पुष्टिफलमीमांसा	१००		

पुष्टिअस्मिता संवर्धन शिविर, राष्ट्रीय संमेलन, भरूच २५

पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा (विस्तृत-संक्षिप्तविवरण) १००

तत्त्वदर्शन विषयक राष्ट्रीय सेमिनार

शब्दखण्डीया विद्वत्परिचर्चा	२००	अन्यख्यातिवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी	१५०
कार्यकारणभावविद्वत्सङ्गोष्ठी	२००	प्रत्यक्षप्रमाण विद्वत्सङ्गोष्ठी	१५०
अन्धकारवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी	२००		

वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह, लेखक : गो. श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

नित्यस्तोत्रपाठ:

पुष्टिपाठावली (हिन्दी)	२०	पुष्टिपाठावली (गुजराती)	२०
पुष्टिपाठावली (गुजराती) पोकेट साईझ			१०

पुरुषोत्तमसहस्रनाम-त्रिविधलीलानामावली(गुर्जरभाषानुवाद) २०

सन्दर्भग्रन्थ:

पुष्टिविधानम् पादानुक्रमणिका १०

Summary of Shuddhadvaita Vangmaya, लेखक: गो.शरद १५

अमृत वचनावली (गुजराती) नि :शुल्क अमृत वचनावली (हिन्दी) निःशुल्क

अध्ययनोपयोगी ग्रन्थ:

पुष्टिविधानम्-२(व्याकरणम्) श्रीवल्लभाचार्य-श्रीगोपीनाथजी-श्रीगुसांईजी विरचित
२६ ग्रन्थोंका पदच्छेद-अन्वय- शब्दपरिचय-वृत्तिपरिचय १००

पुष्टिविधानम्-३ (व्रजभाषा) श्रीवल्लभाचार्य-श्रीगोपीनाथजी-श्रीगुसांईजी विरचित
२६ ग्रन्थोंका शब्दार्थ-श्लोकार्थ-विवेचन-पादानुक्रमणिका १५०

तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणम्, (व्रजभाषाटीका) साधारण/राजसंस्करण ५०/७०

तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत सर्वनिर्णयप्रकरणम् (व्रजभाषाटीका) साधारण/राजसंस्करण ८०/१००

श्रीभागवतमहापुराण(गुर्जरभाषानुवाद) अनु : गो.वा.श्रीकल्याणजी कानजी शास्त्री ५००
श्रीमद्भगवद्गीता, गुर्जरभाषानुवाद, अनुवादक: गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी
श्लोकार्थ-विवेचन-पादानुक्रमणिका. गीतातात्पर्य-न्यासादेशविवरण सहित ५०
विवेकत्रयम्, प्रपञ्च-जीव-मूलरूप (संस्कृत) १०
गृहसेवा और व्रजलीला(व्रजभाषा)व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
गृहसेवा अने व्रजलीला(गुजराती)व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी अप्राप्य
सेवा[हिन्दी] (ऋतु-उत्सव-मनोरथ) व्याख्याता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
सेवा[गुज.] (ऋतु-उत्सव-मनोरथ) व्याख्याता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद, व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी(गुजराती) अप्राप्य
श्रीकृष्णचरित्र (दशमस्कन्ध गुर्जरभाषा-भावानुवाद) अनु : गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी अप्राप्य
रसदृष्टिनी तरफेणमां(गुजराती), लेखक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
सिद्धान्तनुं आचमन, प्रश्नोत्तर (गुज.) उत्तरदाता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
ब्रह्मवाद (हिन्दी) लेखक: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
सेवाकौमुदी[(हिन्दी)],विषय: नवधाभक्ति, लेखक: श्रीलालूभट्टजी. व्याख्याता:गो.श्रीश्या.म. अप्राप्य
भक्तिवर्धिनी(गुज.), व्याख्याता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
षोडशग्रन्थगत उपदेशो अने तेमनी २८ वार्ताओ, लेखक: श्रीभूपेन्द्र भाटीया अप्राप्य
षोडशग्रन्थगत उपदेशो अने तेमनी ६४ वार्ताओ, लेखक: श्रीभूपेन्द्र भाटीया
अप्राप्य
कृष्णाश्रय, श्रीकल्याणरायजी विरचित संस्कृत टीकानो गुजराती अनुवाद अप्राप्य
जिन श्रीवल्लभरूप न जान्यो (गुजराती) गो.श्रीश्याम मनोहरजी लिखित श्रीवल्लभ
महाप्रभुस्तोत्राणि ग्रन्थकी विस्तृत हिन्दी भूमिकाका गुर्जरभाषानुवाद तथा सौंदर्यपद्य, सर्वोत्तमस्तोत्र, वल्लभाष्टक, स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत, श्रीहरिरायचरण रचित श्रीवल्लभस्तोत्र, पंचश्लोकी, शिक्षाश्लोकी आदि ग्रन्थोंकी टीकाओंका गुजराती अनुवाद. ७०
पुरुषोत्तमग्रन्थावली-५(द्रव्यशुद्धि-व्रतोत्सवनिर्णय-अपराधनिरूपण)(संस्कृत-गुज.-हिन्दी) १००
पुरुषोत्तमग्रन्थावली-६(उपनिषद्-गीताविवृति) संस्कृत २००
श्रीभागवत तृतीयस्कन्ध सुबोधिनी प्रथम खंड (अध्याय १-१९) संस्कृत २००
श्रीभागवत तृतीयस्कन्ध सुबोधिनी द्वितीय खंड (अध्याय २०-३३) संस्कृत

इतिहास

श्रीगोपीनाथप्रभुचरण, जीवनचरित्र-ग्रन्थ-हस्ताक्षर (गुज.-हिन्दी) २५
आधुनिक न्यायप्रणाली अने पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीनो आपसी टकराव[गुज.],
लेखक: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
आधुनिक न्यायप्रणाली और पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीका आपसी टकराव[हिन्दी.],
लेखक: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

श्रीभागवतसुबोधिनीका गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी कृत गुर्जरभाषानुवाद

प्रथमस्कन्ध	१००	द्वितीयस्कन्ध	१००
तृतीयस्कन्ध (१-२)	४००	दशमस्कन्ध(जन्मप्रकरण)	१५०

चित्र

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य	निःशुल्क	श्रीगोपीनाथप्रभुचरण	निःशुल्क

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य-श्रीगोपीनाथप्रभुचरण-श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण निःशुल्क
गोशाला : मांडवी-कच्छ में प्राकृतिक वातावरणमें गोपाल गोशाला.
जीर्णोद्धार : तृतीय लालजी श्रीबालकृष्णजीके बैठकजी, गाम : विंजाण-कच्छ

।। श्रीवल्लभाचार्य विद्यापीठ ।।

। संस्कृत, शास्त्र और सम्प्रदाय के अध्ययनके लिए समर्पित पुष्टिमार्गीय केन्द्र ।

अध्ययनोपयोगी ग्रन्थालय, अध्ययनकक्ष, निवास, भोजन, अध्यापक आदि अत्यावश्यक सुविधाओंसे सुसज्ज. पता : २६, श्रीवल्लभाचार्य नगर, रेफरल् होस्पिटल्के पीछे, हालोल, जि.पंचमहाल, गुजरात-३८९३५०. फोन : 02676-225171

व्होट्स्एप द्वारा श्रीवल्लभाचार्य विद्यापीठ तथा पुष्टिमार्ग सम्बन्धी महात्वपूर्ण जानकारीयां प्राप्त करनेकेलिए सम्पर्क करें : विद्यापीठ : 02676-225171
http://www.vallabhacharyavidyapeeth.org/
http://www.pushtimarg.net/

टेलि कोन्फरन्स्-पुष्टिस्वाध्याय : सप्ताहके प्रायः सभी दिन आबाल-वृद्ध सभी पुष्टिमार्गीओं केलिये सम्प्रदायके मूल ग्रन्थोंका अध्यापन विद्वान् आचार्यवंशजों द्वारा टेलिफोनिक कोन्फरन्स् के माध्यमसे होता है. **सम्पर्क:** विद्यापीठ : 02676-225171, नीरजभाई(यु.एस्.ए.):+7325424165. gosharad@rediffmail.com

Subscribe us on You Tube **'Pushtiswadhyay'**

Like our page on Facebook : Sri Vallabhacharya Vidyapeeth

Pushti-Vidya **'पुष्टिविद्या' मोबाईल् एप्लिकेशन् :** आधुनिक संसाधनों का उपयोग करने वाले पुष्टिमार्गी तथा पुष्टिमार्गमें रुचि रखनेवाले जिज्ञासु जनोंको पुष्टिमार्गका यथार्थ परिचय करानेके उद्देश्य से प्रस्तावित की गई है। इसमें पुष्टिमार्गीय टीप्पणी (कैलेंडर), उत्सवोंका परिचय, सिद्धान्तसूक्तियाँ, कीर्तन, प्रवचन, ग्रंथों का अध्यापन, सिद्धांत सम्मत प्रणालीसे आयोजित होते कार्योंकी जानकारी, टेलीफोनिक कॉन्फरेन्ससे होते नित्य पुष्टिस्वाध्याय की जानकारी, उनकी रेकॉर्डिंगक तथा उनकी लिंक आदि विषय इस एप्लिकेशनमें क्रमिक रूपसे उपलब्ध कराये जायेंगे।

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीद्वारा सम्पादित–पुनर्मुद्रित

शुद्धाद्वैत पुष्टिभक्ति सम्प्रदायके मूल संस्कृत ग्रन्थ

१. सव्याख्यषोडशग्रन्थ संयुक्तप्रकाशन, दुर्लभ
   - खंड १. श्रीयमुनाष्टकम् से सिद्धान्तरहस्यम्
   - खंड २. नवरत्नम् से भक्तिवर्धिनी
   - खंड ३. जलभेदः से सेवाफलम्

२. प्रकाश–रश्मि सहित ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्
   - खंड १. प्रथमाध्याय नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड, अतिदुर्लभ
   - खंड २. प्रथमाध्याय नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड, अतिदुर्लभ
   - खंड ३. द्वितीयाध्याय
   - खंड ४. तृतीयाध्याय
   - खंड ५. चतुर्थाध्याय

३. श्रीमद्भागवतसुबोधिनी
   - खंड १. प्रथम (प्रथम खंड. अध्याय १–८)
   - खंड २.प्रथम (द्वितीय खंड. अध्याय ९–१९)
     तृतीयस्कन्ध (दो खंड) श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट(मांडवी) द्वारा प्रकाशित.
   - खंड ४. जन्मप्रकरण
   - खंड ५. तामसप्रमाणप्रकरण
   - खंड ६. तामसप्रमेय–साधनप्रकरण
   - खंड ७. तामसफलप्रकरण
   - खंड ८. राजसप्रमाण–प्रमेयप्रकरण
   - खंड ९.राजससाधन–फलप्रकरण
   - खंड १०.सात्त्विकप्रमेयसाधनफलप्रकरण
   - खंड ११. गुणप्रकरण तथा यावत्प्राप्य एकादशस्कन्ध

४. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध
   - खंड १. शास्त्रार्थ–सर्वनिर्णयप्रकरण
   - खंड २. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध १–५
   - खंड ३. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध ६–१ष

५. सव्याख्यषड्ग्रन्थाः संयुक्तप्रकाशन, दुर्लभ

६. वेदान्ताधिकरणमाला–भावप्रकाशिका

७. विविधविवरणोपेत पत्रावलम्बनम्

८. प्रस्थानरत्नाकर

९. विद्वन्मण्डनम्

१०. श्रीबालकृष्णग्रन्थावली

११. श्रीवल्लभमहाप्रभुस्तोत्राणि

१२. श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकार (हिन्दी–गुजराती)

१३. वल्लभाख्यान (सप्तटीकोपेत) (हिन्दी)
१४. पुष्टिविधानम्[गुजरातीपाठाली, व्रज तथा संस्कृत संस्करण]
१५. वादावली

ब्रह्मवाद, वादकथा, विग्रहवाद, प्रपंचवाद, प्रपंचसंसारभेदवाद, ब्रह्मजीवतदैक्यस्वरूपनिरूपणम्, विरुद्धधर्माश्रयत्वविवेचनम्, आत्मवादः, प्रश्नोत्तरसाहस्रीपर्यालोचनम्, प्रश्नोत्तरसाहस्रीचर्चित-प्रकृत्यधिकरण-समालोचनम्, केवलाद्वैतवादाभिमताविद्यास्वरूपविमर्शः, अक्षरपुरुषोत्तम-द्वैतनिरासवादः

१६. अवतारवादावली

खंड १. आद्यवादत्रयात्मिका

खंड २. भेदाभेदवाद,सृष्टिभेदवाद,आविर्भावतिरोभाववाद,ख्यातिवाद,प्रतिबिम्बवाद, अन्धकारवाद.

खंड ३. ब्राह्मणत्वादिदेवतावादः, जीवव्यापकत्वखण्डनवाद, जीवप्रतिबिम्बत्व-खण्डनवादः, भागवतस्वरूपविषयकशंकानिरासवादः,उपदेशादिविषयकशंकानिरासवादः,भगवत्प्रतिकृ-ति-पूजनवादः, ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणवादः, तुलसीमालाधारणवादः, शंखचक्रधारणवादः, भक्तिरसत्ववादः, भक्त्युत्कर्षवादः, नामफलादिप्रकारवादः, जयश्रीकृष्णोच्चारणवादः, स्ववृत्तिवाद :, वस्त्रादिसेवावादः, मूर्तिपूजनवादः, भागवतपाठादेः शंकानिरासवादः.

१७. सत्सिद्धान्तमार्तण्ड:. भारतमार्तण्ड-पञ्चनदी श्रीगोवर्धन(गट्टुलाल)शर्मा विरचित.
१८. वेदान्तचिन्तामणी. भारतमार्तण्ड-पञ्चनदी श्रीगोवर्धन(गट्टुलाल)शर्मा विरचित.
१९. प्राभञ्जन-मारुतशक्ति. भारतमार्तण्ड-पञ्चनदी श्रीगोवर्धन(गट्टुलाल)शर्मा विरचित.
२०. श्रीमत्प्रभुचरणकृतग्रन्थाः.
२१. भक्तिहेतुनिर्णय: भक्तिहंस:
२२. श्रीमत्प्रभुचरणकृताः स्तोत्रविज्ञप्तयः.
२३. श्रीमद्भगवद्गीताध्यायप्रतिपाद्यसंक्षेप. लेखक : गो.श्या.म.
२४. लघुग्रन्थसंग्रह १-२. लेखक : गो.श्या.म.

४क्र.१, ष तथा ४/१, ४/ष को छोड कर सभी ग्रन्थ श्रीवल्लविद्यापीठ-श्रीविट्ठलेश्वर-प्रभुचरण आ.हो.ट्रस्ट (कोल्हापुर) द्वारा प्रकाशित.

२५. वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह (हिन्दी)
२६. पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद (गुजराती)
२७. विवेक (हिन्दी-गुजराती)
२८. विशोधनिका (चार खंड) (गुज-हिन्दी)
२९. पुरुषोत्तमयोग (गुजराती-हिन्दी)
३०. नवरत्नम् (गुजराती)
३१. नवरत्नोपदेशका मानस विश्लेषण (हिन्दी-गुजराती)
३२. श्रीयमुनाष्टकम् (हिन्दी-गुजराती)
३३. सिद्धान्तनुं आचमन (गुजराती)
३४. सिद्धान्तसूक्ति (गुजराती)
३५. भगवद्गीतासु भक्तियोग (हिन्दी-गुजराती)

३६. पुरुषार्थव्यवस्था (हिन्दी-गुजराती-अंग्रेजी)
३७. चतुःश्लोकी(हिन्दी)
३८. रसदृष्टिनी तरफेणमां(हिन्दी-गुजराती)
३९. गृहसेवा और ब्रजलीला(गुजराती-हिन्दी)
४०. सेवा : ऋतु-उत्सव-मनोरथ (हिन्दी-गुजराती)
४१. ब्रह्मवाद (वादावली सम्पादकीय)
४२. सेवाकौमुदी/नवधाभक्ति (हिन्दी)
४३. चिरकुट चर्चा समीक्षा (हिन्दी-गुज)
४४. पुष्टिमार्गीय पीठाधीश स्वरूप और कर्तव्य
४५. अणुभाष्य(साधनफलाध्याय) भूमिका (गुज.)
४६. श्रीवल्लभाचार्यके दर्शनका यथार्थ स्वरूप
४७. शरणागतिविचारगोष्ठी एक पूरक प्रश्नोत्तरी (गुजराती)
४८. धर्म-अर्थ-काम-मोक्षकी पुष्टिमार्गीय विवेचना(हिन्दी-गुजराती)
४९. भगवत्सेवानो सिद्धान्तशुद्ध प्रकार: एक प्रश्नोत्तरी (गुजराती)
५०. साकारब्रह्मवाद (तत्त्वचिन्तन भक्ति और संस्कृति विमर्श) (हिन्दी)
५१. तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणोपक्रम(गुज.)
५२. तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत संक्षिप्त शास्त्रार्थ-सर्वनिर्णयप्रकरण तथा विवेकधैर्याश्रय, नवरत्न, सिद्धान्तमुक्तावली एवं भक्तिवर्धिनी का गुजराती अनुवाद-विवेचन(गुज.)
५३. वार्तान्की सैद्धान्तिक संगति (वार्ता : गदाधरदास-महावनकी क्षत्राणी-दिनकरदास शेठ-दिनकरदास मुकुंददास)
५४. श्रीदामोदरदासजी-श्रीकृष्णदास मेघनजी : वार्ताविवेचना. (हिन्दी-गुजराती)
५५. श्रीवल्लभाख्यान : श्रीमद्भागवतको प्रारूप और श्रीवल्लभाख्यान
५६. सूक्तित्रय : सिद्धान्त, उत्सव, भक्ति.
५७. वचनामृतत्रय (श्रीमन्महाप्रभुश्रीवल्लभवचनामृत, श्रीमद्प्रभुचरण-गोस्वामि-विट्ठलनाथ-वचनामृत, श्रीवल्लभ(श्रीगोकुलनाथ)वचनामृत)
५८. पुष्टिभक्तिका व्यापारीकरण (कुशंका, खिलवाड-समाधान)
५९. ब्राह्मिक याथार्थ्य और ब्रह्मवाद की नानावादानुरोधिता (लघुग्रन्थसंग्रह-२)
६०. पुष्टिमार्गकी आचार्यत्रयी
६१. अमृतका आचमन
६२. कृष्णएव तात्पर्यम्
६३. अहंकारमीमांसा १,२ (हिन्दी-गुजराती)
६४. मूलाचार्यवाणी (सुबोधिनी तथा अणुभाष्य)
६५. षोडशग्रन्थ परिचय
६६. भक्तिवर्धिनी (सूक्तिसंकलन)

६७. आधुनिक न्यायप्रणाली एवं पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणलीका आपसी टकराव (हिन्दी-गुजराती)

६८. सिद्धान्तवचनावली

६९. अणुभाष्य (संक्षिप्त अनुक्रमणिका)

७०. पुष्टिमार्गीय स्वयंशिक्षक

७१. जिन श्रीवल्लभरूप न जान्यो

७२. आत्मकथा : श्रीकृष्णस्वरूपानन्द सरस्वतीनी.

७३. जयन्त कागना अनेक जन्मोनी कथा (लघु नाटक)

७४. श्रीमद् भागवत पूजन (गुजराती)

७५. शिक्षाश्लोका (गुजराती)

७६. भक्तिवर्धिनी (पीपरीया)(गुजराती)

७७. गोपीगीत सुबोधिनी (सविवरण)

७८. नलकूबेरमणिग्रीवकृतस्तुति(सविवरण)

७९. भक्तिरस

८०. वार्तान्कीसैद्धान्तिक संगति : राणाव्यास

८१. सुबोधिन्या (प्रथम स्कन्ध, तृतीय स्कन्ध)

८२. कपिलगीता (सविवरण) (भाग १,२) (हिन्दी)

८३. दीक्षाचतुष्टयी

८४. सुबोधिनी तथा अणुभाष्य (संक्षिप्त-अध्ययन)

८५. वेदस्तुतिकी भूमिका (भाग १)

पूज्य गोस्वामी श्रीश्याममनोहरजीके वेदस्तुति के ओडियो प्रवचनकी लिंक इस क्यू.आर.कोड स्केन करनेसे मिलेंगे. वर्ष : २०१८, २०१९, २०२०, २०२२, २०२३

सम्पर्क : गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी, व्रजकमल, ६३ स्वस्तिक सोसायटी, ४था रास्ता, जुहु स्कीम, विलेपार्ले(पश्चिम) मुम्बई-५६

विडियो/ओडियो प्रवचन और उपरोक्त प्राप्य ग्रंथो के लिये संपर्क करे :
पुष्टि अस्मिता संवर्धन केन्द्र,
२१४, अमरदिप कोम्पलेक्ष, २-रजपुतपरा, राजकोट-१. मो. ९४२७४ ९५१५९

***

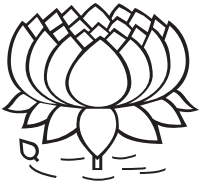

।। कृतज्ञताविज्ञापन ।।

प्रस्तुत ग्रंथ वि.सं.२०७४ से वि.सं.२०७९ में ठठ्ठाई भाटिया सेवाफंडमें स्थित श्रीवल्लभ सुखधाममें प्रतिवर्ष आयोजित होती प्रवचनमालामें मेरे द्वारा दिये गये प्रवचनका जो संक्षिप्त विचारबिन्दु सुश्री मैत्री गोस्वामीने संकलित किया उसे श्रीमती मनीषा परेश शाहने कम्प्युटरमें फीड् किया उसका मुद्रित संस्करण है. इसमें विषयको सुबोध्य बनानेके लिये जो तालिका बनाई थी उसे श्रीजगदीश शेठने ग्राफिक मोडमें संयोजित की है. इसमें प्रवचनके अन्तर्गत उद्धृत वचनोंके आकरस्थलोंको खोज कर श्रीपरेश शाह, श्रीमती पद्मिनी-श्रीधर्मेन्द्र झाला, श्रीअनिल भाटिया ने अतीव उत्साहपूर्वक लिपिबद्ध किया. इस ग्रन्थका आवरकचित्र श्रीमती ख्याति भुलाने तैयार किया है. इस ग्रन्थके मुद्रणोपयोगी उत्तरदायित्व श्रीप्रवीणभाई डढाणिया तथा श्रीपीयूष गोंधिया ने अतीव सोत्साह निर्वाह किया. ग्रन्थप्रकाशनार्थ आर्थिक सहयोग प्रदान इन श्रीप्रणीतभाई तन्ना (मुंबई), श्रीविरेन्द्रसिंहजी (जयपुर), श्रीलक्ष्मीदासजी कापडियाकी स्मृतिमें श्रीमतीआशा अरविंद (मुंबई), श्रीमती कल्पना रमेश काणकिया (मुंबई), श्रीमती भावना अजित पुजारा (कांदीवली) ने उदारभावसे किया है. अन्तमें स्नेही विद्वान श्रीअम्बिकादत्तजी शर्माजीने इसे अपनी भूमिकासे अलंकृत किया है. इन सभीके प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हुं. इन सभी पर महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकी ऐसी अन्तःप्रेरणा कार्य करती रहे ऐसी शुभाकांक्षाके साथ.

गो.श्याम
(१६।५।२०२३)
मुंबई

भूमिका

महाप्रभु वल्लभाचार्य सम्मत शुद्धाद्वैत कोई बौद्धिक ऊहापोहात्मक चिन्तन प्रक्रिया न होकर वेदादि विविध शास्त्रों एवं अनुशास्त्रों के वचनों की समन्वयात्मक व्याख्या करते हुए उनके अभिधा को प्रकट करनेवाली श्रुत्यर्थपर्यालोचना से फलित तत्त्वदर्शन है. ऐसा तत्त्वदर्शन जिसमें परब्रह्म को नित्यानन्द-स्वरूप और अप्राकृत धर्मों का आश्रय माना गया है. पुरुषोत्तम-शब्दवाच्य परब्रह्म श्रीकृष्ण से ही समस्त अलौकिक धर्म प्रकटित होते हैं और यह सबकुछ उनकी ही नित्यलीला है. बहु होने की अलौकिक कामना के साथ उसमें रूपान्तर का आविर्भाव होता है. वह सर्वकारण के कारण अक्षरब्रह्म है. सत्त्व की प्रधानता होने से अक्षरब्रह्म में आनन्द का अंश तिरोहित सा रहता है. परन्तु वही अक्षरब्रह्म भक्त और ज्ञानी के समक्ष भिन्न-भिन्न भाव से प्रकट होते हैं. भक्त देखता है कि वह व्यापी वैकुण्ठ आदि लोकों के रूप में आविर्भूत हुए हैं. भक्त-सन्दर्भी प्रत्यक्ष में इसी कारण अक्षर-रूप में किसी-किसी विशेष गुण का प्राकट्य और अन्यान्य गुणों का अप्राकट्य रहता है. यद्यपि उसमें सर्वगुणों की ही सत्ता रहती है. इसीलिये वह सर्वसम्भवन समर्थ है. आविर्भाव और तिरोभाव उसकी दो विशेष शक्तियाँ हैं जिसके चलते गुण कार्यरूप में प्रकट या फिर अप्रकटतया रहते हैं. तिरोभाव को कभी भी मायाकृत नहीं समझना चाहिए. हाँ, माया के प्रभाव से बद्धजीव के धर्मरूप में जिस तिरोभाव का परिचय मिलता है, वह सद्विषयक ज्ञान का अभाव मात्र है. परन्तु ज्ञानी के समक्ष अक्षरब्रह्म सच्चिदानन्द, देश-काल से परे, स्वप्रकाश और गुणातीत रूप में ही भासमान होते हैं. ऐसे प्रकाशमान ब्रह्म

में एकमात्र तिरोधान-शक्ति का प्राकट्य रहता है और अन्यान्य सारे धर्मों का तिरोभाव होता है. इसीलिए ज्ञानी-जन अक्षरब्रह्म को निधर्मक, निर्गुण और अनिर्देश्य समझते हैं. जबकि, वास्तव में, श्रुतिप्रोक्त अक्षरब्रह्म निधर्मक नहीं है.

वस्तुतः श्रुतियाँ जिस अक्षरब्रह्म के निरूपण में फलीभूत होती हैं वह निधर्मक नहीं है—इसी गुत्थी को सुलझाने के लिए भागवत के दशमस्कन्ध के निर्गुण प्रकरण के अन्तर्गत ८७वें अध्याय में श्रुतिगीता का समावेश हुआ है. परीक्षित का प्रश्न है कि साक्षाद् गुणमयी श्रुतियाँ उस अक्षरब्रह्म का वर्णन करने में कैसे समर्थ हो सकती हैं जो अनिर्देश्य, निर्गुण और सदसत् से परे है. **(ब्रह्मन् ब्रह्मणि अनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात्सदसतः परे?)** यह प्रश्न श्रुति और ब्रह्म में अभिधान और अभिधेय भाव के व्यापक परिप्रेक्ष्य में उठाया गया है. २८ श्लोकों में वेदों द्वारा भगवान् की जो स्तुति की गई है, उसमें इसी प्रश्न को व्यापकतर परिप्रेक्ष्य में प्रत्युत्तरित किया गया है. ऐसा प्रत्युत्तर जिसमें वेदपुराणादि के तात्पर्यों का समाहार हो जाता है.

यहाँ वेदस्तुति के तात्पर्य को समझने में जो उह्य है वह यह की परीक्षित के प्रश्न में 'ब्रह्म'पद का एकवचनान्त (ब्रह्मणि...निर्गुणे) और 'श्रुति'पद का बहुवचनान्त (श्रुतयः) प्रयोग हुआ है. अतः समस्त श्रुतियाँ एकवचनान्त ब्रह्म का बहुवचनान्त वाङ्मय-विग्रह हैं. इसीलिये श्रुति और ब्रह्म में वाच्य-वाचक, अभिधेय-अभिधान और यहाँ तक कि प्रमेय-प्रमाण भाव स्वाभाविक है. श्रुति और ब्रह्म में तत्त्वैक्यता भी उसी तरह की है जैसे

जिस इन्द्रिय के द्वारा जिस किसी विषय का ग्रहण होता है तो तत्तद् इन्द्रिय और विषय दोनों एक ही तत्त्व (महाभूत) से निर्मित माने जाते हैं. इसका मूल भी ब्रह्म की सदंश क्रियाशक्ति है जिससे समस्त रूप-सृष्टि वाच्य, अभिधेय और प्रमेयतया तथा चिदंश ज्ञानशक्ति जिससे नाम-सृष्टि वाचक, अभिधान और प्रमाणतया व्याकृत होती है. तब आखिर क्यों श्रुतियाँ ब्रह्म का स्तुतिगान कर रही हैं? क्या श्रुतियाँ ब्रह्म की वाचकता, अभिधानत्व और प्रमाणत्व से चूक गई हैं, जिसे फिर से प्राप्त करने के लिए वह ब्रह्म का स्तुतिगान कर रही हैं. वेदस्तुति के सन्दर्भ में इस प्रश्न के एक से अधिक उत्तर प्राप्त होते हैं और वेदस्तुति की प्रयोजनीयता सुतरां स्पष्ट हो जाती है. पहला यह कि प्रलयकाल में परमात्मा अपने बनाये हुए सम्पूर्ण जगत को अपने में लीन करके अपनी सारी शक्तियों का अपने में तिरोहित कर योगनिद्रा में शयन करते हैं. ऐसी स्थिति में न प्रकृति उत्पन्न हुई है और न ही सत्त्वादि कोई भी गुण कार्यरत हैं. सृष्टि का सम्पूर्ण पसारा ही परब्रह्म परमात्मा में लीन हो गया है. यह उसका ऐसा स्वरूप है जहाँ श्रुतियाँ भी शान्त हो गई हैं (**श्रुतयो यत्र शेरते**). श्रुतियों के शान्त होने का तात्पर्य उनकी प्राकृतशक्ति 'अभिधायकता' का शान्त हो जाना है. श्रुतियाँ जिसकी अभिधायक हैं वह तो सबकुछ अपने में समेट कर योगनिद्रा में शयनशायी होने से अभिधेय ही नहीं रह गया है. अतः श्रुतियाँ अर्थवान् नहीं रह गयी हैं. मानों उनकी वाचकता ही चूक गई है. जिसके गुणोंका अभिधान करते हुए श्रुतियाँ गुणमयी होती हैं वह निर्गुण स्वरूप को अवाप्त कर लिया है. अतः **'जय जय जहि अजाम'** कहते हुए श्रुतियाँ परमब्रह्म परमात्मा से अपनी अजा को त्यागने की विनती कर रही हैं. यह परब्रह्म परमात्मा की अनाविर्भूत

शक्तियों के आविर्भूत करने की बिनती है ताकि श्रुतियाँ फिर से अर्थवती हों, क्योंकि प्राकृत श्रुतियों की वाचकता तो अनन्त नाम-रूप में व्याकृत ब्रह्म के निरूपण में ही है. अत: वेदस्तुति के द्वारा श्रुतियाँ योगनिद्रा में शयनशायी हुए परब्रह्म परमात्मा को आत्मन्वी **(तन्मनो अकुरुत आत्मन्वी स्याम्)** बना रही हैं और इस तरह स्वयं श्रुतियाँ भी अर्थवती होने की कामना कर रही हैं, क्योंकि उसके आत्मन्वी होने के उपरांत ही श्रुतियाँ अर्थन्वी हो सकती हैं. यही वेदस्तुति का प्रथम प्रयोजन है.

वेदस्तुति की दूसरी प्रयोजनीयता परब्रह्म परमात्मा में सिसृक्षा की आत्मचेतना को उद्‌बुद्ध करना है ताकि वह फिर से कार्यरूप सृष्टि प्रक्रिया में संलग्न हो. परब्रह्म परमात्मा अपने रचे हुए निखिल प्रपंच को शक्तियों समेत अपने में समेट कर योगनिद्रा में सो गया है **(स्वसृष्टम् इदम् आपीय शयानं सह शक्तिभि:)**. अत: सृष्टि रूपी राज-काज को फिरसे संचालित करने श्रुतियाँ उसका यशोगान करते हुए उसे जगा रही हैं **(तदन्ते बोधयाञ्चक्रुस्तल्लिङ्गै: श्रुतय: परम्)**. ठीक वैसे ही जैसे सोये हुए सम्राट को सबेरे-सबेरे अनुचर बंदीगण विरदावली गा कर उसे जगाते हैं. परब्रह्म परमात्मा में सिसृक्षा की प्रतिस्मारक भूमिका में वेदस्तुति के तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए महाप्रभु वल्लभाचार्य उचित ही कहते हैं कि सभी शक्तियों को आत्मकेन्द्रित करते परब्रह्म परमात्मा जब शयन कर रहा था तब एक शक्ति उस समय भी जागृत थी जो उसे जगा रही है. **अष्टत्रिंशे श्रुतीनां हि मया यथा वाच्यं बृहद् भवेत् तदर्थं पूर्वपक्षादिसिद्धान्तफलम् ईर्यते**—अर्थात् वेदस्तुति की २८ कारिकाओं में २८ तत्त्वों का निरूपण करते हुए श्रुतियाँ स्तुति कर रही हैं. अत: प्राकृतरूपा श्रुतिशक्ति तब भी जागृत थी

जो परब्रह्म परमात्मा को जगा रही है. यहाँ पूज्य श्याममनोहर गोस्वामी का एक स्पष्टीकरण बहुत ही समीचीन है कि कार्यकोटि, कारणकोटि और स्वरूपकोटियों में निर्दिष्ट परब्रह्म परमात्मा को स्वरूप प्रतिपादक श्रुतियाँ नहीं जगा रही हैं, अपितु कार्यनिरूपक प्राकृत श्रुतियाँ उसे जगा रही हैं.

वेदस्तुति की तीसरी प्रयोजनीयता 'जीवकल्याण' भी पूज्य श्याममनोहर गोस्वामी के उपर्युक्त स्पष्टीकरण से ही फलित हो जाती है. वह यह कि स्वरूपप्रतिपादिका श्रुतियों के द्वारा वेदस्तुति में परब्रह्म परमात्मा को नहीं जगाया जा रहा है, क्योंकि वह श्रुति जीवों के साथ संवाद नहीं कर सकती. औपाधिक ज्ञानवाले जीवों के लिए यह सम्भव ही नहीं है. अतः 'नेति-नेति' श्रुति द्वारा निर्दिष्ट ब्रह्म जीव के लिए अगम्य है और इसी कारण वह जीवों के लिए कल्याणप्रद नहीं. वेदस्तुति, वास्तव में, प्राकृत श्रुतियों द्वारा परब्रह्म परमात्मा की यश और महिमा का गुणगान है, उसके साकार सगुण स्वरूप का बखान होने से ही कल्याणकारी है. **''सैषा ह्युपनिषद् ब्राह्मी पूर्वेषां पूर्वजैर्धृता श्रद्धया धारयेद् यस्तां क्षेमं गच्छेद् अकिञ्चनः''**—अर्थात् वेदस्तुति ब्राह्मी विद्या है जिसे धारण करने पर पूर्व में ज्ञानियों का कल्याण हुआ है. अतः जीव भी इस ज्ञान को धारण करे तो उसका भी कल्याण अवश्यभावी है.

पूज्य श्याममनोहर गोस्वामी प्रोक्त यह वेदस्तुति-प्रवचन एक तरह से श्रुतिगीता का विद्वन्मण्डन सदृश अलंकार भाष्य है. भागवत के प्राचीन और अर्वाचीन व्याख्याकारों ने वेदस्तुति पर अवश्य ही अपने-अपने मन्तव्य प्रकट किये हैं, परन्तु मेरी जानकारी

की अनुमत सीमा में यह प्रवचन वेदस्तुति पर वादविधि से किया गया पहला व्याख्यान है. इस में वेदस्तुति के आधिभौतिक, आधिदैविक एवम् आध्यात्मिक पक्ष को उद्घाटित करते हुए विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष और संगति तथा वेदस्तुति की ज्ञानमीमांसा जिस तरह पश्चिमी दर्शनों के रियलिज्म, आईडलिज्म, रैशनलिज्म और इम्पिरिसिज्म को सन्दर्भ बनाकर प्रस्तुत की गई है वह अन्यत्र दुर्लभ है. इतना ही नहीं, पूज्य श्याममनोहर गोस्वामी ने औपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और शब्दब्रह्मवाद की विचार-प्रक्रिया का समाहार जिस तरह से वेदस्तुति में दिखाया है उससे प्रमाणरूप भागवत का सम्पूर्ण तात्पर्य वेदस्तुति में समाहित हो जाता है. वैष्णवपरम्परा के विभिन्न आचार्यों ने वेदस्तुति के तात्पर्य को स्वसम्प्रदायवासना से वासित रूप में जिसतरह निरूपित किया है, उसकी समीक्षा करते हुए पूज्य श्याममनोहर गोस्वामी ने महाप्रभु वल्लभाचार्य के अभिमत को स्वमति-मेधा से सम्पुटित कर वेदस्तुति के सम्प्रदाय निरपेक्ष तात्पर्य को प्रकट करने का अत्युच्च प्रयास किया है. वेदस्तुति पर किये गये ऐसे व्याख्यान की भूमिका लिखना मेरे सामर्थ्य से बाहर की बात है. तथापि पूज्य श्याममनोहर गोस्वामी (बाबाजी) का यह मेरे ऊपर अतिशय स्नेह ही कहा जायेगा कि इस निमित्त उन्होंने मुझे वेदस्तुति की स्तुति करने का महान सौभाग्य प्रदान किया. इस सौभाग्य प्रदायक अतिशय स्नेह के लिये पूज्य बाबाजी को शत-शत प्रणाम.

रामनवमी,२०२३,सागर

अम्बिकादत्त शर्मा

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
वेदस्तुति सुबोधिनी कारिका	१-१२
श्रुतिगीता	३
भागवतके दशमस्कन्धान्तर्गत वेदस्तुति	१३
उपक्रम	१३
वेदस्तुति	१३
उपसंहार	२७
वेदस्तुति भूमिका सारांश	२८-१८७
प्रथम प्रकरण	२८-५१
श्रुतिगीताकी पूर्वावधारणाएं	२८-२९
(१) आधिभौतिक पक्ष	२८
(२) आध्यात्मिक पक्ष	२८
(३) आधिदैविक पक्ष	२९
भागवताधारित वेदस्तुतिकी पूर्वावधारणा	२९
कर्ममार्गकी उपनिषत्प्रोक्त ब्राह्मिकी आधारिक संरचना	३७
ज्ञानमार्गकी उपनिषत्प्रोक्त ब्राह्मिकी आधारिक संरचना	३७
भक्तिमार्गकी उपनिषत्प्रोक्त ब्राह्मिकी आधारिक संरचना	३८
नाम-रूप-कर्मका विभाग	३८
वेदस्तुतिकी ज्ञानमीमांसा	३९
पश्चिमी दर्शनकी दार्शनिकतत्त्वदृष्टि	३९-४०
(१) रियालिज़म्	३९
(२) आईड्यालिज़म्	३९
पश्चिमीदर्शनमें अन्य २ ज्ञानदृष्टि विचारधारा आयीं	४०
(१) रेशनालिज़म्	४०
(२) इम्पिरीसिज़म्	४०

ज्ञानप्राप्तिकी दो प्रक्रियाएं हैं ४९-५०
(१) कोनोटेशन् ४९
(२) डिनोटेशन् ४९
वेदस्तुति एवं ब्रह्मसूत्रके विषय निरूपणकी-
प्रकियाका तुलनात्मक विचार ५०
द्वितीय प्रकरण ५२-१४९
महाप्रभुद्वारा निरूपित सिद्धान्त तथा संगति के-
स्वरूपका निर्धारण ५४
कारणरूप एकमेवाद्वितीयब्रह्म तथा कार्यरूप सृष्टिमें-
प्रतीत होते ब्रह्मवादके स्वरूपका विर्मश ५५
ब्रह्मवादीय परिप्रेक्ष्यमें तादात्म्यवादके-
एकार्थरूप सिद्धान्तका सार ५७
ब्रह्मके निर्देश्य तथा अनिर्देश्य होनेकी अवस्थाओंका
विवेचन ५८
वेदद्वारा ब्रह्मकी निर्देश्यता तथा अनिर्देश्यता की-
समस्याका डेमॉन्स्ट्रेशन् ५९
वाणीके प्रकार तथा वाणीद्वारा ब्रह्मके स्वरूपके-
निरूपणकी विविध शैलियोंकी समीक्षा ६०
वाणीद्वारा होते निर्देशके प्रकारोंकी विवेचना ६२
वेदकी ऋचामें प्रतिपादित वाणी तथा ब्रह्म के
तादात्म्यका स्वरूप ६६
शब्द तथा प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञानोत्पत्तिकी प्रक्रियामें-
प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का विमर्श ६८
विविध दार्शनिक कार्यकारणभाव(कॉज़ल् थीयरीज़)-
विषयक वाद तथा ज्ञानप्राप्तिकी प्रक्रियाका-
(एपिस्टेमोलॉजी) पारस्परिक सम्बन्ध तथा-
सृष्टि विषयक वादोंपर पड़ता उनका प्रभाव ७०-७२

१.आरम्भवाद = नैयायिकोंका मत ७०
२.(विकृत)परिणामवाद = निरीश्वर सांख्यवादियोंका मत ७१
३.विवर्तवाद = श्रीशंकराचार्यका मत ७१
४.प्रतीत्यसमुत्पादवाद = भगवान् बुद्धद्वारा प्रस्थापित मत ७१
बर्टेन्ड् रसेलद्वारा कृत प्रत्यक्ष तथा तद्निष्पन्न-
ज्ञानकी प्रक्रियाका विचार ७२
श्रीधरस्वामिकृत विर्वतवादमूलक व्याख्यान ७३
शब्दकी पांच प्रकारकी वृत्तियां ७४
१.अभिधावृत्ति ७४
२.लक्षणावृत्ति = शक्यसम्बन्धो लक्षणा ७४
३.गौणीवृत्ति ७४
४.तात्पर्यवृत्ति ७४
५.निषेधवृत्ति ७४
महाप्रभुद्वारा कृत शब्दशक्तिके अन्तर्गत-
तात्पर्यवृत्तिका स्वतन्त्रतया स्वीकार ७५
श्रीवीरराघवकृत रामानुजसंप्रदायपरक अर्थ ७६-७७
१.आश्रयानुपपत्ति ७६
२.निवर्तकानुपपत्ति ७६
३.प्रमाणानुपपत्ति ७६
४.स्वरूपानुपपत्ति ७६
५.लक्षणानुपपत्ति ७६
६.निवर्त्यानुपपत्ति ७७
अजन्यगुणके अन्तर्गत ७९
शांकरमतानुसारी ब्रह्मके गुण तथा निर्गुणताकी व्याख्या ८२
महाप्रभुके निकटवर्ती श्रीभास्कराचार्यजीका-
ब्रह्मके गुणके बारेमें मत ८३
महाप्रभुजीद्वारा प्रतिपादित ब्रह्मके गुण तथा-

निर्गुण के बारेमें सिद्धांत ८३
ब्रह्मसूत्रके प्रथम सूत्रमें प्रतिपादित ब्रह्मजिज्ञासा तथा-
परीक्षितद्वारा उपस्थित शंकाओंमें-
पारस्परिक सम्बन्ध ८५
महाप्रभुद्वारा विवेचित "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" सूत्रका-
अर्थ तथा ब्रह्मकी वाच्यता-अवाच्यता सम्बन्धी निर्णय ८७
ब्रह्मसूत्रमें प्रस्तुत जिज्ञासा तथा वेदस्तुतिके पूर्वपक्षकी-
तुलनात्मक समीक्षा ८८
ईश्वर-ईशीतव्य सृष्टा-सृष्टि अर्थ-वाणी आदि ८९
ब्रह्मके अजन्यगुण अन्तर्गत आधिदैविकगुणोंकी मीमांसा ९२
वेदस्तुति सुबोधिनी ९८
वेदस्तुतिकी सिनोप्सिस १०६
पुरुषोत्तमसहस्रनाम निरूपित नामसंगति ११२
त्रिविधलीलानामावली निरूपित नामसंगति ११५
श्रीद्वारकेशजी निरूपित अध्यायार्थ ११६
श्रीधरस्वामिकृतभावार्थदीपिका १२८
श्रीमद्वीरराघवकृत भगवच्चन्द्रिका १३०
श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतबृहत्क्रमसन्दर्भ १३३
सत्यधर्म विरचित टीका (मध्वाचार्य) १३५
श्रीवामनाचार्यके अनुसार परीक्षितके प्रश्नकी व्याख्या १३७
शुकदेवजीद्वारा दिये गए उत्तरकी व्याख्या १३९
श्रीधरस्वामिकृत व्याख्या(शांकरवेदान्तानुसारी) १४०
श्रीवीरराघवकृत व्याख्या(रामानुजवेदान्तानुसारी) १४१
श्रीसत्यधर्मकृत व्याख्या(माध्ववेदान्तानुसारी) १४२
महाप्रभुके अनुसार वेदस्तुतिकी सिनोप्सिस् १४५
तृतीय प्रकरण १५०-१८४
१.वाक्यार्थ (भेदवादी प्रक्रिया) १७१

२.अखण्डार्थ (आत्यन्तिक अभेदवादी प्रक्रिया) १७२
३.तात्पर्यार्थ (तादात्म्यवादी प्रक्रिया) १७३
'अनिर्देश्ये ब्रह्मणि गुणवृतयः श्रुतयः - कथं चरन्ति?' इत्यत्र स्वतन्त्रलेखः १८५-१८८
मंगलाचरणम् १८५
विषयोपन्यासः १८५
एतस्याः श्रुतिभागवतयोः निर्दिष्टा प्रक्रिया १८६
अत्र प्रत्यक्षाद्यनुभूतीनाम् उदाहरणम् १८६
उपसंहार १८७
अनिर्देश्यब्रह्मनिर्देशनप्रक्रियारूपश्रुतिगीतोपक्रमः १८९-१९५
श्रुतिगीतालघुटीका(कारिकाविवक्षितश्रुतियोजना) १९६-२०९
मंगलाचरणम् १९६
उपक्रमः १९६
उक्तस्य संवादः सृष्टिप्रक्रियानिरूपणेन १९७
रूपनाम्नोः स्वरूपेण उपपादनम् १९८
एतत्सृष्टिप्रक्रियायाः कथयोपपत्तिः १९८
प्रलयशिष्टाद्वितीयस्य प्रमाणप्रमेयभेदापन्नता प्रमाणांशेन प्रमेयांशोद्बोधने प्रमेये सृष्टिः १९९
ब्रह्मवादीया प्रक्रिया २००
इहापराशंकासमाधाने २०४
ब्रह्मश्रुतयोः आधिदैविकाध्यात्मिकेति भेदद्वयम् २०५
उपसंहार २०९
उद्धरणतालिका २१०-२१७
उद्धृतग्रन्थसंकेततालिका २१८-२१९

।। वेदस्तुति सुबोधिनी कारिका ।।

शब्दार्थयोः उत्तमयोः सम्बन्धो यादृशो मतः ।।
तं विवेचयितुं कृष्णः श्रुतिगीतं चकार ह ।।१।।

कारिकार्थ : वेदरूप शब्द और ब्रह्मरूप अर्थका वाच्य-वाचक सम्बन्ध जैसा महापुरुषोंने माना है, उस प्रकारके सम्बन्धका अन्य प्रकारके सम्बन्धोंसे पृथक् करनेके लिये व्यासजीने यह श्रुतिगीत कहा है ।।१।।

प्रमाणं ब्राह्मणः प्रोक्तः प्रमेयमपि वै बृहत् ।।
स एव भगवान् कृष्णः ततो भजनम् ईरितम् ।।२।।

कारिकार्थ : ब्राह्मणको प्रमाण और प्रमेय भी कहा है, प्रमेय ब्रह्म है. वह 'प्रमेय' भगवान् कृष्ण ही है, इसलिये इनका ही भजन करना चाहिए, यों कहा है ।।२।।

तत्र उपपत्तिः प्रष्टव्या वाच्यवाचकनिर्णये ।।
अतो राजा श्रुतीनां वै निर्णयार्थम् अपृच्छत ।।३।।

कारिकार्थ : वाच्य (प्रमेय ब्रह्मके विषयमें) वाचकके निर्णयका युक्तिसहित हेतु पूछना चाहिए, अतः राजा प्रमाण कह इस विषयमें (प्रमाण प्रमेय और भजन में) जो शंका है उसका निर्णय पूछते हैं ।।३।।

सगुणं चेद् वेदवाक्यं ब्राह्मणाः तत्र च स्थिताः ।।
ततो अत्र भगवानेव पूज्यो न अन्यः कथञ्चन ।।४।।

कारिकार्थ : इस कारिकामें निर्णय करनेका प्रयोजन कहते हैं,

वेदोंके वाक्य यदि यों प्रतिपादन करते हैं कि ब्रह्म अनन्त गुणवाला है और ब्राह्मण उसमें ही स्थित है. अर्थात् सर्व प्रकारसे उसका ही ध्यान आदि करते हैं तो वह भगवान् ही पूज्य हैं अन्य कोई नहीं॥४॥

मतान्तरोक्तिः एषा हि सिद्धान्ते वैदिके तथा॥
अनन्तगुणपूर्णो हि हरिः ब्रह्म श्रुतिः तथा॥५॥
त्रयम् एकं स्वशक्तिं हि त्रेधा स्वस्मिन् निधाय हि॥
फल-प्रमेय-मानत्वं सच्चिदानन्दतां गतम्॥६॥

कारिकार्थ : यह अन्यमतानुसार उक्ति है, किन्तु वैदिक सिद्धान्तमें भी यह मान्य की गई है, जैसे कि अनन्तगुणोंसे पूर्ण हरि ब्रह्म और श्रुति ये तीनों एक ही है. वास्तवमें अपनी शक्तिके तीन प्रकार कर, फिर उनको अपने भीतर ही धारण कर प्रभु फल प्रमेय और प्रमाण तथा आनन्द चित् तथा सत् रूप बनते हैं॥५-६॥

तथापि साङ्ख्यसिद्धान्ते तथा तदुपजीवके॥
वैष्णवे अन्यत्र वा वाच्यं श्रुतिसङ्ग्रहणं यथा॥७॥

कारिकार्थ : यों होते हुए भी साख्यसिद्धान्तानुसार एवम् उनके ऊपर आधार रखनेवाले वैष्णव सिद्धान्तानुसार अथवा अन्यत्र मुख्य भक्ति सिद्धान्तानुसार श्रुतियोंका अर्थ वैसा ही किया जाता है॥७॥

अष्टत्रिंशे श्रुतीनां हि यथा वाच्यं बृहद् भवेत्॥
तदर्थं पूर्वपक्षादिसिद्धान्तफलम् ईर्यते॥८॥

कारिकार्थ : उत्तरार्धके इस अध्यायमें श्रुतियों द्वारा जैसे ब्रह्मका विधान हो सके तदर्थ इसके प्रारम्भके पूर्वपक्ष आदि सिद्धान्त

कहा है एवं फल भी कहनेमें आया है॥८॥

अवाच्यः सर्वशब्दानां बुद्ध्या वाच्यो निगद्यते॥
ततः समानधर्मेण व्यवहारो निरूप्यते॥९॥

कारिकार्थ : सर्व शब्दद्वारा जिसका निरूपण नहीं किया जा सकता है उसका बुद्धिसे निरूपण होता है, इस समानधर्मसे उसका व्यवहार होता है, यों निरूपण किया जाता है॥९॥

(श्रुतिगीता)

प्राकृताः श्रुतयः सर्वा भगवन्तम् अधोक्षजम् ॥
स्तुवन्ति दोषनाशाय तत्र आविष्टो भवेद् यथा ॥१०॥

कारिकार्थ : जो प्राकृत श्रुतियाँ हैं वे सब अधोक्षज भगवान्‌को अजाके नाशके लिए स्तुति करती हैं. जैसे अजानाशमें जगत्‌में प्रविष्ट हो॥१०॥

सत्यो हरिः समस्तेषु भ्रमभातेष्वपि स्थिरः॥
अतः सन्तः समस्तार्थे कृष्णमेव विजानते॥११॥

कारिकार्थ : जो सत्य पदार्थ है और जो भ्रमसे भासते हैं उन सबमें हरि ही स्थिर है, अतः सत्पुरुष अर्थात् ज्ञानीभक्त समस्त पदार्थ कृष्णके ही रूप हैं, यों विशेषरूपसे जानते हैं॥११॥

कथानन्त्योक्तिहृदयाः साधनानि न कुर्वते॥
साक्षाद् ये पादसंश्लिष्टाः ते किं वाच्या महाशयाः॥१२॥

कारिकार्थ : जिनके हृदयमें कथाके अनन्त वचन रमण कर रहे हैं वे साधन नहीं करते, तो जो लोग साक्षाद् भगवान्‌के

चरणोंका आश्रय ले कर बैठे हैं, उन महाशयोंके लिए तो कहना ही क्या अर्थात् वे साधन न करें तो कौनसा आश्चर्य है? ॥१२॥

कृष्णएव सदा सेव्यो निर्णीतः पञ्चधा बुधैः ॥
शरीरदः प्रेरकश्च सुखदः शेष सत्-पदः ॥१३॥

कारिकार्थ : श्रीकृष्ण शरीरदाता, प्रेरक सुख देनेवाले, शेष और सत्त्व हैं, यों पांच प्रकारसे ज्ञानिओंने जिनका निर्णय किया है; वे श्रीकृष्ण ही सदा सेवा करने योग्य है॥१३॥

कर्मरूपं हरिं केचित् सेवन्ते योगरूपिणम् ॥
तेभ्योऽपि अक्षररूपस्य सेवकाः सम्मताः सताम् ॥१४॥

कारिकार्थ : कितने ही कर्मरूप हरिकी उपासना करते हैं और कितने ही योगरूप हरिका सेवन करते हैं, इन सबसे भी अक्षररूप हरिकी सेवा करनेवालोंको सत्पुरुषोंने उत्तम माना है॥१४॥

सर्वत्र भगवान् तुल्यः सर्वदोषविवर्जितः ॥
क्रीडार्थम् अनुकुर्वन् हि सर्वत्रैव विराजते॥१५॥

कारिकार्थ : सर्व दोषरहित भगवान् सर्वत्र समान है, केवल क्रीड़ाके लिए अनुकरण करते हुए सबके भीतर विराजते हैं॥१५॥

गुप्तानन्दाः यतो जीवाः निरानन्दं जगद् यतः ॥
पूर्णानन्दो हरिः तस्माद् जीवैः सेव्यः सुखार्थिभिः ॥१६॥

कारिकार्थ : जीवोंका आनन्द तिरोहित हो गया है, जगत्में आनन्द नहीं है, इसलिये जिन जीवोंको आनन्द प्राप्तिकी चाहना है उनको भगवान्की सेवा करनी चाहिए, क्योंकि भगवान् पूर्णानन्द

हैं, अतः यह ही आनन्ददान कर सकते हैं॥१६॥

कृष्णे हरौ भगवति परमानन्दसागरः॥
वर्तते न अत्र सन्देहः कथा तत्र नियामिका॥१७॥

कारिकार्थ : भगवान् हरि कृष्ण में परमानन्दका सागर है इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है, क्योंकि उसमें कथा नियामक है॥१७॥

असत्सङ्गो न कर्तव्यो भक्तिमार्गस्य बाधकः॥
देहे हि अनुगुणे कृष्णे न इन्द्रियाणां प्रियं चरेत्॥१८॥

कारिकार्थ : असत्संग नहीं करना चाहिए क्योंकि सेवामें प्रतिबन्ध डालनेवाला है अतः श्रीकृष्णकी सेवामें देह अनुकूल हो तो सेवा ही करनी चाहिए, इन्द्रियोंके प्रिय विषयोंमें चित्त नहीं लगाना चाहिये॥१८॥

सर्वएव हरेः भक्ताः तुल्या यान् मन्यते हरिः॥
अतः कृष्णो यथा आत्मीयान् मन्यते भजनं तथा॥१९॥

कारिकार्थ : भगवान् जिनको अपना मानते हैं वे सब भक्त भगवान्के समान हैं अतः श्रीकृष्ण जैसे उनको आत्मीय मानते हैं वैसे ही भजन भी मानतें हैं॥१९॥

ज्ञानमार्गो भ्रान्तिमूलः ततः कृष्णं भजेद् बुधः॥
प्रवर्तकं ज्ञानकाण्डं चित्तशुद्ध्यै यतो भवेत्॥२०॥

कारिकार्थ : ज्ञानमार्गका मूल भ्रान्ति है, इसलिए उसमें न फस कर बुद्धिमान पुरुषको भगवान्का भजन ही करना चाहिए क्योंकि

ज्ञानकाण्डकी प्रवृत्ति केवल चित्तशुद्धिके लिए है॥२०॥

भ्रान्तिमूलतया सर्वसमयानाम् अयुक्तितः॥
न तद्विरोधात् 'कृष्णा'ख्यं परं ब्रह्म त्यजेद् बुधः॥२१॥

कारिकार्थ : सर्व मतोंकी जड़ भ्रान्ति है और उनमें कोई शास्त्रीय तर्क नहीं है. अतः ऐसे भ्रान्त, युक्तिरहित मतोंके विरोधसे बुद्धिमानको कृष्णके भजनका त्याग नहीं करना चाहिए॥२१॥

जीवानां ब्रह्मरूपत्वाद् दोषाअपि च मानसाः॥
जगच्च सकलं ब्रह्म ततो दोषः कथं हरौ?॥२२॥

कारिकार्थ : जीव और समग्र जगत् ब्रह्म है तो दोष मानसिक है फिर हरिमें दोष किस तरह होगा?॥२२॥

सर्वथा सर्वतः शुद्धाः भक्ताएव न च अपरे॥
अतः शुद्धिम् अभीप्सद्भिः सेव्याः भक्ताः न च अपरे॥२३॥

कारिकार्थ : भक्त ही सर्वथा सर्व प्रकार शुद्ध हैं, अन्य शुद्ध नहीं है, अतः शुद्धिकी चाहनावालेको भक्तोंकी सेवा करनी चाहिए दूसरोंकी सेवा नहीं करनी चाहिए॥२३॥

सुवर्णप्रतिमेव असौ सर्वानन्दमयो अधिराट्॥
सर्वसेव्यो नियन्ता च निर्दुष्टः सर्वथैव हि॥२४॥

कारिकार्थ : सुवर्णकी प्रतिमाके समान, यह(श्रीकृष्ण) सर्वानन्दपूर्ण, सार्वभौम राजा, सर्व जिनकी सेवा करते हैं, सबको अपने वशमें रखनेवाले, सर्वथा ही दोषोंसे रहित हैं॥२४॥

सर्वभावविनिर्मुक्तः पूर्णः क्रीडार्थम् उद्गतः॥

निमित्तं तं समाश्रित्य जायन्ते जीवराशयः ॥२५॥

कारिकार्थ : सर्व लौकिक भावोंसे रहित, पूर्णप्रभु श्रीकृष्ण, क्रीड़ाके लिए जब उद्यत होते हैं, तब क्रीड़ारूप कालके वश गुणोंकी विषयताको निमित्त बना कर जीव समूह चिनगारीयोंकी तरह उनसे प्रकट होते हैं अर्थात् उत्पन्न होते हैं॥२५॥

यादृशः प्रकटो गन्धः पुष्पाणां सन्निधौ भवेद्॥
एकस्मिन्नपि तत्पुष्पे तथा घ्राणगते नहि॥२६॥

कारिकार्थ : फूलोंकी गन्ध पुष्पोंकी सन्निधिमें जैसा प्रकट होती है, वैसी गन्ध एक फूलको नाकमें डालनेपर भी नहीं आती है अर्थात् जब एक फूलसे वैसी गन्ध नहीं प्राप्त होती है, तो सूक्ष्म अवयवोंसे गन्ध किस प्रकार आयेगी? ॥२६॥

नियन्ता जीवसंघस्य हरिः तेन अणवो मताः ॥
जीवाः न व्यापकाः क्वापि चिन्मया ज्ञानिनां मताः ॥२७॥

कारिकार्थ : जीवोंके समूहको वशमें रखनेवाले हरि हैं, जिससे जीव अणु माने गए हैं, जीव कभी भी व्यापक नहीं हैं, ज्ञानी भी उनको चिन्मय मानते हैं॥२७॥

नामरूपप्रपञ्चं हि देव-तिर्यङ्-नरात्मकम्॥
कृष्णादेव समुद्भूतं लीनं तत्रैव तन्मयम्॥२८॥

कारिकार्थ : देव, जन्तु और मनुष्यरूप एवं नामरूप सर्व जगत् कृष्णसे ही उत्पन्न हुआ है, तन्मय होनेसे उनमें ही लीन हो जाता है॥२८॥

नृणां दुर्गतिम् आलोक्य ये सेवन्ते दृढव्रताः॥
कृष्णं तद्भ्रुकुटिः कालो न तान् हन्ति कदाचन॥२९॥

कारिकार्थ : जो लोग मनुष्यकी दुर्गति देख, निश्चय पूर्वक अनन्य हो कर श्रीकृष्णका भजन करते हैं, उनको भगवान् कृष्णका भ्रुकुटिरूप काल कभी हनन नहीं करता है॥२९॥

अणिमादिसुखार्था ये ये च अत्यन्तबहिर्मुखाः॥
क्लेशकार्यरता ये च तदर्थं योगः उच्यते॥३०॥
परम्परासाधनं वा फलार्थं वा निरूपितः॥
योगः साक्षाद् न मोक्षाय निषेधाद् व्याससूत्रतः॥३१॥
"एतेन योगः प्रयुक्तः" (ब्र.सू.२।१।३) प्रशंसार्था फलश्रुतिः॥

कारिकार्थ : जिनकी इच्छा है कि हम अणिमा आदि सिद्धियोंके सुखको स्वाद लें और जो भगवान्से सर्वथा बहिर्मुख हैं एवं जो क्लेशकार्योंमें सुख मानते हैं, एसोंके लिए योग कहा है॥३०॥

अणिमादि सिद्धिकी इच्छावालोंके लिए यह योग परंपरासे साधन है. योग साक्षात् मोक्ष फल देनेवाला नहीं है किन्तु उससे किञ्चित् सुखकी प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि व्यासजीने अपने ब्रह्मसूत्रोंमें योगसे मोक्षकी प्राप्तिका निषेध किया है॥३१॥

जैसेकि "एतेन योगः प्रयुक्तः" इससे योगका उत्तर दिया, इस सूत्रमें मोक्षकी प्राप्तिका निषेध किया है॥

अदान्ते मनसि ज्ञाते योगार्थं न यतेद् बुधः॥३२॥
गुरुसेवापरो भूत्वा भक्तिमेव सदाभ्यसेत्॥

कारिकार्थ : मन वश होनेवाला नहीं है यों जान कर बुद्धिमानको योगके लिए प्रयत्न नहीं करना चाहिए॥३२॥

कारिकार्थ : किन्तु गुरुसेवा परायण हो कर सदा भक्ति ही करनी चाहिए॥

पुत्रादीन् सम्परित्यज्य कृष्णः सेव्यो न तैः सह॥३३॥
तत्सुखं भगवान् दाता तेतु क्लिष्टे अतिदुःखदाः॥

कारिकार्थ : पुत्र आदिका त्याग कर (उनसे मोह-ममता निकाल कर उनके पालन-सुख आदिकी चिंता छोड़ दे और यों निश्चय रखे कि इनको भगवान् ही सुख देंगे) श्रीकृष्णकी सेवा करनी चाहिए॥३३॥

उनको सुख भगवान् देंगे. वे दुःखके समयमें विशेष पीड़ाकारक होते हैं॥

सर्वलोकोपकारार्थं कृष्णेन सहितास्तु ते॥३४॥
परिभ्रमन्ति लोकानां निस्ताराय महाशयाः॥

कारिकार्थ : वे महाशय समस्त लोगोंके उपकार करनेके लिए और उनको मोक्ष देनेके लिए श्रीकृष्णके साथ परिभ्रमण करते हैं॥३४॥

परिभ्रमन् तीर्थनिष्ठो गुरुलब्धहरिस्मृतिः॥
न सेवते गृहान् दुष्टान् सद्धर्मात्यन्तनाशकान्॥३५॥

कारिकार्थ : जो भक्त तीर्थोंमें निष्ठावाला है वह सदैव पुण्य स्थानोंमें भ्रमण करता रहता है. गुरुसे जिनको हरिकी स्मृतिका ज्ञान प्राप्त हो गयो है, वैसा भक्त सद्धर्मका अत्यन्त नाश करनेवाले दुष्ट गृहोंका सेवन नहीं करता है॥३५॥

सद्बुद्ध्या सर्वथा सद्भिः न सेव्यम् अखिलं जगत्॥

भ्रान्त्या सद्बुद्धिः अत्र इति सन्तं कृष्णं भजेद् बुधः ॥३६॥

कारिकार्थ : यह जगत् सत् है, यों जान कर सत्पुरुषोंको इनका सेवन नहीं करना चाहिए, जगत्में जो सद्बुद्धि हुई है, वह भ्रान्तिसे हुई है. अतः सद्रूप श्रीकृष्णका ही भजन करना चाहिए॥३६॥

खपुष्पादिसमत्वाद् हि मिथ्याभूतं जगद् यतः ॥
अधिष्ठानाच्च सद्भानं तं कृष्णं नियतं भजेत्॥३७॥

कारिकार्थ : आकाशके फूलोंके समान जगत् असत् है, जिस अधिष्ठानसे सत् भास रहा है, उस श्रीकृष्णका नियमपूर्वक सदा ही भजन करना चाहिए॥३७॥

सर्वसद्गुणमाहात्म्यः सर्वदोषविवर्जितः ॥३८॥
भगवानेव सेव्यो हि न तु जीवाः कदाचन॥

कारिकार्थ : सभी सद्गुणोंवाले माहात्म्यवान सभी दोषोंसे विवर्जित ऐसे भगवान् ही सेवनीय होते हैं जीवात्मा नहीं॥३८॥

कालादितृणपर्यन्ता न सेव्या मुक्तिम् इच्छता॥३९॥
दोषत्याजनशक्तो हि सेव्यो दाता गुणस्य च॥

कारिकार्थ : मुक्ति इच्छुकके लिए कालसे ले कर तृण पर्यन्त कोई भी सेव्य नहीं है कारण कि दोष छुड़ानेकी जिसमें शक्ति हो और गुणोंके दाता हो वह भगवान् ही सेवा करने याग्य है॥३९॥

जीवेषु भगवान् आत्मा सञ्छन्नः तेन तत्र न॥४०॥
भजनं सर्वथा कार्यं ततो अन्यत्रैव पूजयेत्॥

कारिकार्थ : भगवान् जीवोंमें पूर्णरीतिसे छिपे हुए हैं, अतः जीवका भजन नहीं करना चाहिए, इस कारणसे भगवान्का ही सर्वथा भजन करना चाहिए॥४०॥

सुखसेवापरो यस्तु सः आनन्दं हरिं भजेत्॥४१॥
अन्यथा सुखसंप्रेप्सुः सर्वथा दुःखम् आप्नुयात्॥

कारिकार्थ : जिसको सुख और भगवत्सेवाकी लालसा हो, उसको आनन्दरूप हरिका भजन करना चाहिए. जो सेवाके सिवाय अन्य उपायसे सुख चाहता है वह सर्वथा दुःखको ही पाता है॥४१॥

कृष्णानन्दः परानन्दो न अन्यानन्दः तथाविधः॥४२॥
वेदा अपि न तच्छक्ताः प्रतिपादयितुं स्वतः॥

कारिकार्थ : श्रीकृष्णका आनन्द ही सबसे बढ़ कर आनन्द है, उसके समान अन्य कोई आनन्द नहीं है. वेद भी स्वतः उसके प्रतिपादन करनेमें समर्थ नहीं है॥४२॥

इत्येवं श्रुतिगीतायाः संक्षेपेण निरूपितः॥४३॥
अर्थराशिः समुद्रो हि यथा अङ्गुल्या निरूप्यते॥

कारिकार्थ : जैसे समुद्रको अंगुलीसे दिखाया जा सकता है, वैसे ही श्रुतिगीताका अर्थ संक्षेपसे निरूपण किया है॥४३॥

अर्थः स्थलत्रये गूढः पुराणोपनिषच्छ्रुतौ॥४४॥
सर्वतः सारम् एतद् हि समुद्धृतम् इह उच्यते॥

कारिकार्थ : पुराण, उपनिषद् और श्रुतियां इन तीन स्थानोंमें भगवद् भजनानन्द रस गुप्तरूप रहा है. जहांसे(श्रुतिगीतासे) यह

सार निकाल कर यहां कहा जाता है, अत: इसके सिवाय अन्य कोई सार नहीं है॥४४॥

माहात्म्यं बहुधा ज्ञात्वा जीवानां च गतिं पराम्॥
सर्वं त्यक्त्वा विधार्यैतन् नित्यं कृष्णं स्मरंश्चरेत्॥४५॥

कारिकार्थ : मनुष्य सर्व प्रकार भगवान्के माहात्म्यका ज्ञान प्राप्त करे, अनन्तर यह निश्चय कर ले कि जीवोंकी परमागति श्रीकृष्ण ही है. इस श्रुतिगीताके उपदेशको हृदयमें धारण कर, सब सांसारिक कार्योंको छोड़ नित्य श्रीकृष्णका स्मरण करता हुआ विचरण करे.

॥ श्रीहरिः ॥

भागवतके दशमस्कन्धान्तर्गत वेदस्तुति

(उपक्रम)

॥ परीक्षिद् उवाच ॥

ब्रह्मन् ब्रह्मणि अनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः ।
कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात् सदसतः परे ? ॥१॥

श्लोकार्थः : परीक्षितने कहा कि हे ब्रह्मन्! गुणोंमें जिनकी वृत्तियाँ रहती हैं, वैसी सगुण श्रुतियां जिसका निर्देशन न हो सके, वैसे गुणरहित और सत्-असत्से उपर ब्रह्मका साक्षात् वर्णन कैसे करती है ?॥१॥

(वेदस्तुति)

॥श्रुतयः ऊचुः ॥

जय जय जह्यजाम् अजित दोषगृभितगुणां
त्वम् असि यद् आत्मना समवरुद्धसमस्तभगः ॥
अगजगद् ओकसाम् अखिलशक्त्यवबोधक ते
क्वचिद् अजयात्मना च चरतोऽनुचरेद् निगमः ॥१॥

श्लोकार्थः : श्रुतियां कहेने लगी कि हे प्रभो! आपकी जय हो, जय हो! हे अजित! स्थावर-जंगम जीवोंकी सम्बन्धिनी दोषार्थ ही जिसने सत्त्वादिगुण धारण किये हैं, ऐसी निद्राका आप त्याग कीजिये, क्योंकि आप स्वयं ही सर्व ऐश्वर्यादि भगोंको अपनेमें अवरुद्ध करनेवाले हैं. आप सदैव स्वस्वरूपसे ही क्रीड़ा करते हैं. अतः वेद आपकी सेवा कर रहें हैं, कभी किसी समय अजासे भी क्रीड़ा करते हो.

बृहदुपलब्धम् एतद् अवयन्त्यवशेषतया
यत उदयास्तमयौ विकृतेर् मृदिवाविकृतात्॥
अत ऋषयो दधुस् त्वयि मनोवचनाचरितं
कथम् अयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम्॥ २॥

श्लोकार्थः : यह दृश्यमान जगत् जिसका हम अनुभव कर रहे हैं, वह शेषरूपसे सदैव रहता है, इसलिये इस जगतको ज्ञानी अक्षररूप जानते हैं, क्योंकि मिट्टीकी भांति अविकृतसे विकारके उदय तथा अस्त होते हैं, इसलिए ऋषियोने मन और वाणीके कार्यको आपमें लगाया हैं. मनुष्योंके पाद तो जो पृथ्वी पर अंकित हो जाते हैं वे झूठ नहीं होते हैं (चरण अन्तमेंतो पृथ्वी पर ही टिकते/पडते हैं)॥२॥

इति तव सूरयस्त्र्यधिपतेऽखिललोकमल-
क्षपणकथामृताब्धिम् अवगाह्य तपांसि जहुः॥
किमुत पुनः स्वधामविधुताशयकालगुणाः
परम! भजन्ति ये पदम् अजस्रसुखानुभवम् ॥३॥

श्लोकार्थ : हे तीन लोकके अधिपति प्रभु! साधनप्रतिपादन करनेवाली श्रुतियां भी ब्रह्मका ही निरूपण करती है, यों निश्चयकर आपके भक्त, सकल लोकके मलका नाश करनेवाले तथा कथारूपी अमृतोदधिमें स्नानकर तप आदि साधनोंको छोड़ देते हैं, हे परम! जिन्होंने अपने स्वरूपकी स्फूर्तिसे देह और कालके गुणोंको दूर फेंक दिया है और जो निरंतर सुखका ही जिसमें अनुभव होता है वैसे पदको भजते है, उनका तो कहना ही क्या!॥३॥

दृतयइव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधा

महदहमादयोऽण्डमसृजन् यदनुग्रहतः ॥
पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः
सदसतः परं त्वम् अथ यदेष्ववशेषमृतम् ॥४॥

श्लोकार्थ : जो आपके सेवक हैं, वे ही प्राणधारी है, शेष अर्थात् जो आपका भजन नहीं करते, वे धौकनीकी तरह केवल हवा ले रहे हैं. आपके ही अनुग्रहसे महतत्त्व अहंकार आदिने इस ब्रह्माण्डको रचा है, जो आप अन्नमय आदिमें अंतिम हैं, वह आप ही देहोंमें पुरुषविध एवं अन्वय है और कार्य और कारणसे भी जो परे हैं वह भी आप ही हैं और जो ये सर्व कार्य-कारणात्मक वस्तु है, उनमें जो शेष रहता है, वह सत्य भी आप ही हैं॥४॥

उदरम् उपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः
परिसरपद्धतिं हृदयम् आरुणयो दहरम् ॥
तत उदगाद् अनन्त तव धाम शिरः परमं
पुनरिह यत्समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे ॥५॥

श्लोकार्थ : ऋषियोंके मार्गोंमें अर्थात् वैदिकमार्गोंमें जो उदर (कर्म)की उपासना करते हैं, वे स्थूल दृष्टिवाले हैं और जो नाड़ियोंका मार्ग जहां है, वैसे हृदयकी उपासना करते हैं, वे अल्प प्रकाशवाले हैं अर्थात् स्वल्प देखते हैं, हे अनन्त! आपका धाम उत्तम है अतः त्रैलोक्य कालसे भी उत्तम आपका जो सिर आधिभौतिक (ब्रह्मलोक) है, उससे भी उपर जाते हैं, वह आपका भगवत्स्वरूप ऐसा है, जिसको प्राप्तकर फिर कालके मुखमें नहीं पड़ते हैं॥५॥

स्वकृतविचित्रयोनिषु विशन्निव हेतुतया
तरतमतश्चकास्स्यनलवत् स्वकृतानुकृतिः ॥
अथ वितथास्वमूष्ववितथं तव धाम समं
विरजधियोऽन्वयन्त्यभिविपण्यव एकरसम् ॥६॥

श्लोकार्थ : आप अपने रचे हुए विचित्र देव-मनुष्य आदि शरीरोंमें हेतुपनसे रहते हुए भी मानों भीतर प्रवेश करते हुए छोटे-बड़े आदि विविध प्रकारसे वैसे प्रकाशमान हो, जैसे अग्नि काष्ठमें सीधी व वक्र आदि काष्ठसम भासती है और जो सर्व व्यवहारातीत ज्ञानी हैं, वे ही इन योनियोंमे आपका स्वरूप सत्य तथा एकरस है, यों जानते हैं॥६॥

स्वकृतपुरेष्वमीष्वबहिरन्तरसंवरणं
तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोंशकृतम् ॥
इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं
भवत उपासतेऽङ्घ्रिम् अभवं भुवि विश्वसिताः ॥७॥

श्लोकार्थ : कवि आपके ही बनाए हुए इन देहोमें जीवको अखिल शक्तिधारी आपका अंश कहते हैं, वह आपका अंशरूप जीव देहके गुण-दोषरूप आवरणसे रहित है. इस तरह जीवकी गतिका विवेचनकर, वे (पृथ्वि पर भगवनमें विश्वस्त) कवि, वेद जिसका प्रतिपादन करते हैं कि चरणारविन्द जन्मादि संसारको नष्ट करनेवाला है, आपके वैसे चरणारविन्दोंकी भक्ति करते हैं॥७॥

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनोः
चरितमहामृताब्धि-परिवर्तपरिश्रमणाः ॥

न परिलषन्ति केचिद् अपवर्गम् अपीश्वर ते
चरणसरोजहंसकुलसंगविसृष्टगृहाः ॥८॥

श्लोकार्थ : जिस आत्मतत्त्वका ज्ञान पाना अति कठिन है, उसका ज्ञान देनेके लिए जिस आपने अवतार धारण किया है, एसे आपके चरित्ररूप महान् अमृतसागरमें बहुत अवगाहनार्थ परिश्रम करनेवाले कोई ऐसे विरले भक्त हैं, जो हे ईश्वर! मोक्ष सुखको भी नहीं चाहते हैं, कारण कि उनको आपके चरणकमलके आश्रय करनेवाले हंसो (परमभगवदीयों)के संगमे भगवच्चरित्र चर्चा करते, जो परमानन्द प्राप्त होता है, वह मोक्षमें भी नहीं दीखता है इसलिए ही उन्होंने गृहादि सबका त्याग कर दिया है॥८॥

त्वदनुपथं कुलायम् इदम् आत्मसुहृत्प्रियवत्-
चरति तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च ॥
न बत रमन्त्यहो असदुपासनयात्महनो
यदनुशया भ्रमन्त्युरुभये कुशरीरभृतः ॥९॥

श्लोकार्थ : यह देह आपकी सेवाके लिए है, अतः आत्मवत्, मित्रवत्, और प्रियवत् आचरण करती है और जो आप हितकरनेवाले, प्रिय एवं आत्मा हैं, उनकी सन्मुखताके योग्य ब्राह्मणादि शुद्ध देह होते हुए भी आपकी सेवा करते हुए आपमें रमण नहीं करते हैं, आपका आनन्द नहीं लेते हैं, वे असतों (असत्संग अथवा क्षुद्र देवो)की उपासनासे अपनी आत्माका हनन करते हैं और जिससे वे दुष्ट शरीरवाले होकर महान् भयदायी संसारमें भटकते हैं, इसलिए आश्चर्य तथा खेद है॥९॥

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि यन्
मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात् ॥
स्त्रिय उरगेन्द्रभोग-भुजदण्डविषक्तधियो
वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः ॥१०॥

श्लोकार्थ : अच्छी रीतिसे धारण किये हुये वायु, मन और इन्द्रियोंसे जिन्होने योगकी सिद्धि प्राप्त की है, वैसे मुनि लोग अपने अन्तःकरणमें उपासना करते हैं, वह आपका चरण शत्रुओंने भी स्मरणसे प्राप्त किया है तथा शेषकी कायाके समान आपके भुजदण्डोंमें आसक्तबद्धिवाली स्त्रियां और हम भी समदृष्टिवाले आपको समान ही है, क्योंकि आपके चरणकमलोंको सब अच्छे प्रकारसे धारण करनेवाले हैं॥१०॥

क इह नु वेद बतावरजन्मलयोऽग्रसरं
यत उदगाद् ऋषिर् यम् अनुदेवगणा उभये ॥
तर्हि न सन् न चासद् उभयं नच कालजवः
किमपि न तत्र शास्त्रम् अवकृष्य शयीत यदा!॥११॥

श्लोकार्थ : जिससे ब्रह्मा उत्पन्न हुए, उसके बाद दोनो प्रकारके देव उत्पन्न हुए, उन सबसे पहले विद्यमानको पीछेसे उत्पन्न तथा लय प्राप्त होनेवाले कैसे जान सकेंगे? यह विचारणीय है और फिर जब सबका आकर्षणकर शयन करते हैं, तब वहां कार्य तथा कारण एवं मन और कालवेग भी नहीं रहता है और कोई शास्त्रभी नहीं होता है॥११॥

जनिम् असतः सतो मृतिम् उतात्मनि ये च भिदां

विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितैः ॥
त्रिगुणमयः पुमान् इति भिदा यद् अबोधकृता
त्वयि न ततः परत्र स भवेद् अवबोधरसे ॥१२॥

श्लोकार्थ : (नैयायिक) असत्से उत्पत्ति मानते हैं, (वैशेषिक) सत्का आत्माका नाश मानते हैं, (मीमांसक) जीवोंमें भेद मानतें है, फिर दूसरे (सांख्यके एकदेशी और योगी) कर्मफलको सत्य मानते हैं - ये सब आरोपित भ्रमोंसे ही यों (इसप्रकार)(?) निरूपण करते हुए उपदेश देते हैं कि यह पुरुष त्रिगुणवान् है, इस प्रकार भेद अज्ञानकृत है, ज्ञानरसरूप आपमें वह अज्ञान हो नही सकता है; क्योंकि आप उससे परे हो॥१२॥

सदिव मनस् त्रिवृत् त्वयि विभात्यसद् आमनुजात्
सद् अभिमृशन्त्यशेषम् इदम् आत्मतयात्मविदः ॥
न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया
स्वकृतम् अनुप्रविष्टम् इदम् आत्मतयावसितम् ॥१३॥

श्लोकार्थ : तृणस्तम्बसे लेकर मनुष्यपर्यन्त सबमें असत् और तीन गुणवाला यह मन आपमें सत् जैसा भास रहा है. आत्मज्ञानी इस सम्पूर्ण जगतको ब्रह्मरूपसे सत् ही जानते हैं. जैसे सुवर्णके व्यापारी सुवर्णके विकार (कुण्डलादि)को सोना ही समझ खरीदते है; क्योंकि उस विकारमें सुवर्णने ही प्रवेश किया है, वैसे ही भगवानने अपनेमेंसे बनाए इस जगतमें प्रवेश किया है, जिससे यह जगत् भी उसी तरह ब्रह्ममय होनेसे ज्ञानी आत्मवेत्ताओंने इसको ब्रह्मरूपसे निर्धार किया है॥१३॥

तव परि ये चरन्त्यखिलसत्त्वनिकेततया
त उत पदाक्रमन्त्यविगणय्य शिरो निर्ऋतेः ॥
परिवयसे पशूनिव गिरा विबुधानपि तान्
त्वयि कृतसौहृदाः खलु पुनन्ति न ये विमुखाः ॥१४॥

श्लोकार्थ जो आपको सकल प्राणीमात्रका स्थान जानकर सेवा करतें हैं, वे ही मृत्युके शिरका तिरस्कारकर उसपर पैरोंको धरकर, उस(मृत्यु)को उल्लंघन कर जाते हैं, जो मृत्युसे उत्कृष्ट देव हैं, उन प्रसिद्ध देवोंको भी आप वाणीसे बांधते हैं, किन्तु जिन्होंने आपसे सौहार्द्र कर लिया है, वे तो समस्त जगतको पवित्र करते हैं इसमें किसी प्रकारका संशय नहीं है. जो आपसे विमुख तपस्वी आदि है, वे इस प्रकार जगतको पवित्र नहीं कर सकते हैं॥१४॥

त्वम् अकरणः स्वराड् अखिलकारकशक्तिधरः
तव बलिम् उद्वहन्ति समदन्त्यजयाऽनिमिषाः ॥
वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो
विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः ॥१५॥

श्लोकार्थ : आप इन्द्रियरहित हैं, स्वयंप्रकाश हैं, समस्त कारकोंकी सर्व क्रियाकलापोकी शक्तिको धारण करनेवाले हैं, अतः देव मायासे आपकी बलि देके शेष ग्रहण करते हैं जैसे चक्रवर्ती राजाकी आज्ञा अनसार खण्डपति राजा लोगोंसे 'कर' लेकर वह चक्रवर्तीको देते हैं और शेष वे लेते हैं. जो ब्रह्मादिको आपने जिस कार्यमें नियत किये हैं, वे आपसे डरते हुए नियत कार्य पूर्णतया करते रहते हैं॥१५॥

स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थनिमित्तयुजो
विहर उदीक्षया यदि परस्य विमुक्त ततः ॥
नहि परमस्य कश्चिद् अपरो न परश्च भवेद्
वियत इवापदस्य तव शून्यतुलां दधतः ॥१६॥

श्लोकार्थः : हे मायासम्बन्धसे विमुक्त! जब आप परपुरुषकी क्रीडा करनेकी इच्छा होती है, तब स्थावर और जंगम जातियां स्वयं ही उत्पन्न होती है और साथमें वे प्रकृतिसे उत्थित कर्म भी धारण करती है. अक्षरसे भी आगे बिराजमान आपसे कोई अन्य पर या अपर नहीं है, क्योंकि स्थानरहित आप आकाशके समान शून्यकी समानता धारण करते हैं॥१६॥

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगतास्
तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा ॥
अजनि च यन्मयं तद् अविमुच्य नियन्तृ भवेत्
समम् अनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया ॥१७॥

श्लोकार्थ : यदि अगणित नित्य जो जीव हैं, वे व्यापक होवें तो नियम्य नहीं हो सकते हैं (अर्थात् उनके उपर किसीका भी नियम नहीं रह सकता है, क्योंकि नियम्य-नियामकभाव तब रह सकता है कि जब एक अणु हो और दूसरा व्यापक हो तब). ब्रह्ममय होकर ही जीवरूपसे प्रकट हुए हैं, किन्तु यदि वे ब्रह्मात्मताका त्याग न करे, तो फिर नियन्ता कौन होगा? अर्थात् कोई नहीं. ब्रह्म सर्वत्र सम है इसलिए नियम्य-नियामकत्वभाव जो लोग नहीं मानते हैं, उनका मत दोषपूर्ण होनेसे अमत है अर्थात् मान्य करने योग्य नहीं है॥१७॥

न घटत उद्भवः प्रकृतिपूरुषयोर् अजयोः
उभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत् ॥
त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे
सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युर् अशेषरसाः ॥१८॥

श्लोकार्थ : अजन्मा प्रकृति-पुरुषसे उत्पत्तिका होना घटता नहीं है, जीव प्रकृति-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न होते हैं, जैसे जलके बुदबुदे जलवायुके संयोगसे बनते हैं; क्योंकि सबका कारण प्रभो आप ही हैं. जैसे नदियां समुद्रमें और सर्वरस मधुमें लीन होते हैं वैसे आपमें ही ये जीव विविध नाम-गुणोंके साथ लीन रहते हैं॥१८॥

नृषु तव मायया भ्रमम् अमीष्ववगत्य भृशं
त्वयि सुधियोऽभवे दधति भावम् अनुप्रभवम् ॥
कथम् अनुवर्ततां भवभयं तव यद् भ्रुकुटिः
सृजति मुहुस् त्रिणेमिर् अभवच्छरणेषु भयम् ॥१९॥

श्लोकार्थ : ये मनुष्य आपकी मायाके कारण ही आपको भूल जाते हैं, जिससे वे बार-बार नाना योनियोंमे भ्रमण करते हैं, यो जानकर जो बुद्धिमान हैं, वे श्रेष्ठबुद्धि होनेसे आपमें भाव अर्थात् रति करते हैं, उनको संसारका भय कैसे होगा? आपकी भ्रुकुटिरूप काल तो उनको बार-बार भय उत्पन्न करता है जिन्होंने आपकी शरण नहीं ली है॥१९॥

विजित-हृषीक-वायुभिर् अदान्तमनस् तुरगं
य इह यतन्ति यन्तुम् अतिलोलम् उपायखिदः ॥

व्यसनशतान्विताः समपहाय गुरोश् चरणं
वणिजइवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ ॥२०॥

श्लोकार्थ : जो मनुष्य इन्द्रिय ओर वायुको स्वाधीनकर अति चञ्चल और जो काबूमें नहीं है ऐसे मनरूप घोड़ेको रोकनेकेलिए प्रयत्न करते हैं, वे साधन करते-करते ही थक जाते हैं, क्योंकि उन साधनोमें बहुत कष्ट है. हे अज! वे कष्ट पाते हुए क्यों थक जाते हैं? उसका कारण यह है कि वे गुरुचरणोंका समाश्रय नहीं लेते हैं, जिससे वे सैकडों व्यसनोमें ऐसे फंसे रहते हैं, जैसे व्यापारी बिना कर्णधारवाली नौकामें बैठकर समुद्रमें गोते खाते रहते हैं॥२०॥

स्वजनसुतात्मदारधनधामधराऽसुरथैः
त्वयि सति किं नृणां श्रयत आत्मनि सर्वरसे ॥
इति सद् अजानतां मिथुनतो रतये चरतां
सुखयति कोऽन्विह स्वविहते सुनिरस्तभगे ॥२१॥

श्लोकार्थ : जब शरणागत पुरुषको सर्वरसरूप आप आत्मरूपसे स्फुरित होते हैं, तब ऐसे आश्रित मनुष्योंको स्वजन, पुत्र, देह, स्त्री, धन, गृह, धरा आदि प्राणरूप वाहकोंसे कौन सा प्रयोजन है? कुछ भी नहीं. इस प्रकारकी जो सत् वस्तु है, उसको जो नहीं जानते हैं और विषयसुखकेलिए स्त्रीको साथमें लेकर जो फिरते रहतें हैं, उनको स्वतः ही टूटे-फूटे और उत्तम सामग्रीसे रहित गृहमें कौन सुख देनेवाले हैं?॥२१॥

भुवि पुरुपुण्यतीर्थसदनान्यृषयो विमदाः
त उत भवत्पदाम्बुजहृदोऽघभिदङ्घ्रिजलाः ॥

दधति सकृन् मनस् त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे
न पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथान् ॥२२॥

श्लोकार्थ : जिनका चरणजल पापोंका नाश करनेवाला है, भगवानके ऐसे चरणकमल जिनके हृदयमें बिराजमान है, ऐसे मदरहित ऋषि बड़े पुण्यवाले जो गंगा कुरुक्षेत्रादि तीर्थ हैं, उनको और गुरुओंके गृहोंको ही सेवते हैं, ऐसे जिन्होने नित्य सुखरूप आपमें एकबार भी मन लगा दिया है, वे फिर विवेकादिको हरणकरनेवाले गृहोंमें कभी रहना नहीं चाहते हैं॥२२॥

सत इदम् उत्थितं सदिति चेद् न नु तर्कहतं
व्यभिचरति क्व च क्व च मृषा न तथोभययुक् ॥
व्यवहृतये विकल्प इषितोऽन्धपरम्परया
भ्रमयति भारती त उरुवृत्तिभिरुक्थजडान् ॥२३॥

श्लोकार्थ : यदि कहो कि यह जगत् सत्से उत्पन्न हुआ है, अतः सत् है, तो यों (सत्) भी नहीं है, क्योंकि तर्कसे यों सिद्ध नहीं हो सकता है और कहीं व्यभिचारी हो जाता है एवं किसी स्थल पर झूठा भी होता है, यदि कहो कि सदसदात्मक जगत् है, तो वैसा भी नहीं है. यह कल्पना व्यवहारकेलिए अन्धपरम्परासे मानी गई है. आपकी यह वेदवाणी नानावृत्तियोंसे कर्मासक्तोकों भ्रममें डालती है॥२३॥

न यद् इदम् अग्र आस न भविष्यद् अतो निधनाद्
अनुमितम् अन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे ॥
अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथैः
वितथमनोविलासम् ऋतम् इत्यवयन्त्यबुधाः ॥२४॥

श्लोकार्थः : जिससे यह जगत् सृष्टिसे पहले नहीं था और प्रलय होनेके बाद भी न रहेगा. केवल मध्यमें एकरस आपमें अनुमानसे भास रहा है, अतः झूठा ही है, ऐसे मनोविलासित जगतको जो सत्य-ब्रह्मस्वरूप कहते हैं, वे मूर्ख है॥२४॥

स यद् अजया त्वजाम् अनुशयीत गुणांश्च जुषन्
भजति सरूपतां तदनु मृत्युम् अपेतभगः ॥
त्वम् उत जहासि ताम् अहिरिव त्वचम् आत्तभगो
महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभगः ॥२५॥

श्लोकार्थ : वह ही भगवद्रूप (जीव) जब भगवानकी मायामें फंस जानेसे अविद्याका अनुसरण करता है, तब जीव कहलाता है और उस अविद्याके गुणोका सेवन करनेसे उस अविद्याकी समानताको प्राप्त होता है अर्थात् जड़ताको प्राप्त करता है, पश्चात् उस जीवमें भगवद्रूप होनेसे जो ऐश्वर्य आ आदि भग है वे तिरोहित हो जाते हैं, जीससे वे जीव मृत्युको पाते हैं. आप तो उससे अन्य प्रकार फैंक अपने अणिमादि आठ ऐश्वर्य (भग) सहित पूर्ण तेजोरूपमें विराजते हैं और जैसे सर्प त्वचाको फैंक देता है वैसे आप मृत्युको फैंक देते हैं. विशेषमें आप तो वास्तविक असंख्य भग अर्थात् गुण यथा यश, ज्ञान, वैराग्यादिवाले हैं॥२५॥

यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटा
दुरधिगमोऽसतां हृदि गतोऽस्मृतकण्ठमणिः ॥
असुतृपयोगिनाम् उभयतोऽप्यसुखं भगवन्
अनपगतान्तकाद् अनधिरूढपदाद् भवतः ॥२६॥

श्लोकार्थ : योगीजन जो अपने हृदयसे कामरूप जटाओंको दूर नहीं कर सकते भगवान उनके हृदयमें विराजमान होने पर भी कठिनतासे या दुःखसे प्राप्त कर पाते हैं. जो असत् जगत्में आसक्त हैं उनको तो आप नहीं मिलते इसमें तो कहना ही क्या! जैसे कण्ठमें पड़ी हुई मणि भी विस्मृत हो जानेसे सुख तो नहीं देती है प्रत्युत दुःख ही देती है, वैसे ही जो प्राणोंके पोषणार्थ ही प्रयत्न करते हैं, उनको दोनो तरहके दुःख प्राप्त होते है, एक तो यम सहित काल भी उनको दुःख देता है जिससे जीवनमें दुःख ही दुःख भोगते हैं, मरनेके बाद भी आपकी प्राप्ति न होनेसे चिंतासे घिर जानेसे वे दुःखी होते हैं॥२६॥

त्वदवगमी न वेत्ति भवदुत्थशुभाशुभयोः
गुणविगुणान्वयान् तर्हि देहभृतां च गिरः ॥
अनुयुगम् अन्वहं स गुणगीतपरम्परया
श्रवणभृतो यतस् त्वम् अपवर्गगतिर् मनुजैः ॥२७॥

श्लोकार्थ : जिसने आपके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वह आपकी सेवा करते हुए जो सुख तथा दुःख होते हैं और गुण वा अवगुण होते हैं, उनको जानता ही नहीं एवं देहाभिमानियों द्वारा कही हुई निन्दावाली वाणी आदिको भी नहीं जानता हैं; क्योंकि श्रवणेच्छु मनुष्योंने मोक्ष देनेवाले आपके गुणोंवाले गीतोंसे प्रत्येक युगमें तथा नित्य अपने कर्णोंको भर दिया है. जिससे उनके कानोंमें सुख-दुःख गुण-अवगुण और निन्दा आदिके सुननेके वा रहनेके लिए स्थान ही नहीं है॥ २७॥

द्युपतय एव ते न ययुर् अन्तम् अनन्ततया
त्वमपि यद् अन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः ॥
ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतयः

त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः ॥२८॥

श्लोकार्थ : आपके स्वरूपानन्दके अन्तको स्वर्गलोकोंके पति इन्द्रादि तो नहीं जानते हैं, किन्तु आप भी नहीं जानते हैं; क्योंकि आपमें आवरणसहित ब्रह्माण्डोंके समूह कालके साथ ऐसे घूम रहे हैं, जैसे आकाशमें रजकण फिरते रहते हैं. आप ही जिनका विश्रामस्थल हैं, ऐसी श्रुतियां निषेध मुखसे भी निश्चयसे आपमें ही पर्यवसान पाती है अथवा आपका ही प्रतिपादन करती है॥२८॥

.....

(उपसंहार)

यो अस्य उत्प्रेक्षकः आदिमध्यनिधने यो अव्यक्तजीवेश्वरो
यः सृष्ट्वा इदम् अनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरः शासिताः ॥
यं सम्पद्य जहाति अजाम् अनुशयी सुप्तः कुलायं यथा
तं कैवल्यनिरस्त योनिम् अभयं ध्यायेद् अजस्रं हरिम्॥५०॥

श्लोकार्थः : जो भगवान् इस जगत्का आदि मध्य और अन्त में हित विचारते हैं और जगत्के आदि मध्य और अन्त रूप हैं एवं प्रकृति पुरुष तथा ईश्वररूप हैं. जो इस जगत्की रचना कर वेद सहित इसमें प्रवेश कर पृथक्-पृथक् शरीर धारण करते हैं, फिर उनको अपने वशमें रखते हैं, जैसे सुप्त पुरुष देहको भूल जाता है, वैसे ही जिसको प्राप्त कर प्रकृतिका अनुयायी भी अविद्याका त्याग करता है, जिसने केवल होनेके कारण योनिका नाश कर दिया है और निर्भय है, वैसे हरिका ध्यान करना चाहिए॥५०॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

वेदस्तुति भूमिका सारांश *

प्रथम प्रकरण

भागवतके दशमस्कन्धके निर्गुणप्रकरणके अन्तर्गत ८७वे अध्यायमें श्रुतिगीताका समावेश हुआ है. सृष्ट्युत्पत्तिसे पूर्व जब प्रकृति भी उत्पन्न नहीं हुई थी तथा सत्त्वादि कोई भी गुण कार्यरत नहीं हुए थे; उस समय भगवान्का जो योगनिद्रामें शयन करता स्वरूप था, वह वेदस्तुतिमें वर्णित हुआ है. ब्रह्मसूत्रद्वारा प्रतिपादित ३२ विद्याओंके निष्कर्षके रूपमें ये श्रुतिगीता है. मूर्तिमती श्रुतिओंके द्वारा भगवान्के स्वरूपका वर्णन कर देनेके बाद उपनिषदोंने तथा वेदांगोने भगवान्के नाम-रूपात्मकस्वरूपका वर्णन किया होनेसे श्रुतिगीता उपनिषद्की प्रियेम्बल् (प्रस्तावना) है.

श्रुतिगीताकी पूर्वावधारणाएं (प्रि-सपोज़िशन्स् ऑफ् श्रुतिगीता)

महाप्रभुके द्वारा विचारित शैलीसे श्रुतिगीताका अवलोकन यदि करें तो निम्नोल्लिखित प्रकारसे श्रुतिगीताके विषयका विचार किया जा सकता है:

(१) आधिभौतिक पक्ष (ज्ञानमीमांसा - एपिस्टॅमॉलोजी)

एक ही विषयका विचार किया गया होनेपर भी सभी विचारकोंने श्रुतिगीताके विषयको भिन्न-भिन्न प्रकारसे समझा है. मनुष्यकी बुद्धि अपनी मर्यादामें ही प्रत्येक विषयका विचार करती होनेसे अर्थबोधमें प्रभेद देखे जाते हैं.

(२) आध्यात्मिक पक्ष (तत्त्वमीमांसा - ओन्टोलोजी)

ब्रह्माजीने वेदस्तुतिका श्रवण करनेके उपरांत ब्राह्मण आरण्यकादि

---

*गोस्वामी सुश्री मैत्रीद्वारा संकलित प्रवचन सारांश

शास्त्रोंमें ब्रह्मके स्वरूपको व्याख्यायित किया है. अतः ब्राह्मणादि शास्त्रोंमें प्रस्तुत किये गए विचार वेदस्तुतिमें प्रतिपादित विषयकी ही तत्त्वमीमांसा है. यह वेदस्तुतिका आध्यात्मिक पक्ष है. उपनिषद्में प्रस्तुत किए गए विषयमें उपनिषद्की अपनी ब्रह्मको सर्वात्मक दृष्टिसे प्रस्तुत करनेकी एक शैली होनेसे तत्र निरूपित तत्त्व ऑल् ॲन्कम्पासिंग् है, क्योंकि उपनिषदोंमें जगत्को ब्रह्मकी क्रियाशक्तिके प्रादुर्भावके रूपमें वर्णित किया है.

(३) आधिदैविक पक्ष (भागवतीय लीलात्मकदृष्टि)

भागवतीय लीलाके अन्तर्गत श्रुतिगीताका समावेश होनेसे उपनिषद्में जिसे ब्रह्मकी क्रियाशक्तिके रूपमें वर्णित किया गया है; उसी तत्त्वकी एनालिसिस् महाप्रभु भागवतके सन्दर्भमें लीलात्मक दृष्टिसे कर रहे हैं; क्योंकि भागवत भगवान्की लीलाका प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र है.

भागवताधारित वेदस्तुतिकी पूर्वावधारणा

ब्रह्मकी दो शक्ति हैं : क्रियाशक्ति एवं ज्ञानशक्ति. ब्रह्मसूत्रके विषयको ले कर महाप्रभु आज्ञा करते हैं कि ब्रह्मसूत्रके ४ अध्याय प्रमाणरूप प्रमेयरूप साधनरूप एवं फलरूप के निरूपणद्वारा ब्रह्मके प्रतिपादक बनते हैं. अतः **''तस्माद् वा एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः आकाशाद् वायुः''** (तैत्ति.उप.२।१) **''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते''** (तैत्ति.उप.३।१) इन उपनिषद्वाक्योंमें निरूपित विषयको महाप्रभु समझाते हैं कि क्रियाकी उत्पत्ति-स्थिति एवं लय का स्थान जो ब्रह्म है; वही ज्ञानकी उत्पत्ति-स्थिति एवं लय का स्थान भी है. अतः जगत्में प्रकट हुए सभी पदार्थ ब्रह्मकी क्रिया एवं ज्ञान शक्तिके ही अनन्त प्रभेद हैं.

सच्चिदानन्द ब्रह्म ३ विभागोंमें विभक्त हो कर प्रकट होता

है. सदंशमें क्रियाशक्ति है, चिदंशमें ज्ञानशक्ति है तथा आनन्दांशमें आनन्त्य है.

(१)

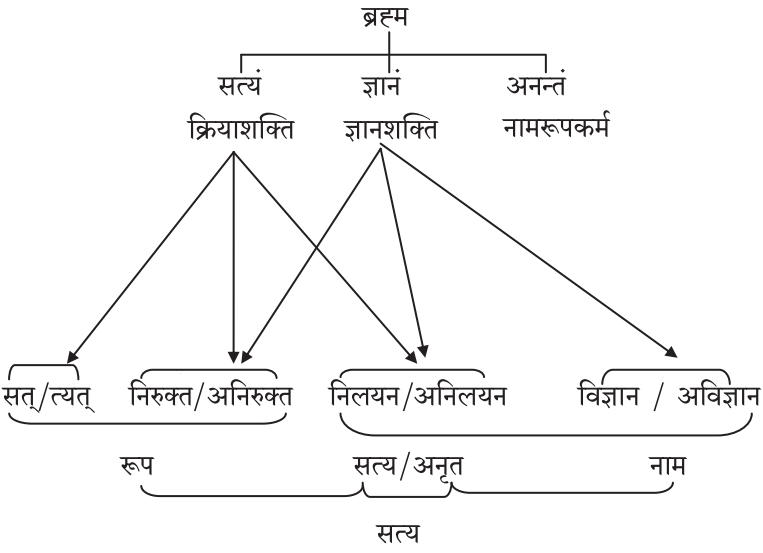

उपरोक्त ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति की परस्पर क्रियाकारितासे (इन्टरॅक्शन्से) जगत्के अनन्तविध नाम-रूप उत्पन्न होते हैं. एक सुभाषितमें अतएव कहा गया है कि **''हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हतास्त्वज्ञानिनः क्रियाः अपश्यन्नन्धको दग्धः पश्यन्नपि च पंगुकः''**.

भागवतमें वेदस्तुतिके पूर्वाध्यायमें श्रुतदेव एवं बहुलाश्व के घरमें प्रभुके पधारनेका वृत्तांत वर्णित है, जहां भगवान्के उपचय-अपचयरहित ऐश्वर्यका वर्णन हो जानेके बाद निर्गुण यशके वर्णनार्थ वेदस्तुति आ रही है. प्रमाणनिरूपण बिना प्रमेयकी सिद्धि न हो पानेसे ऐश्वर्य निरूपणोपरांत ब्रह्मसे परिणत नाम-रूप-कर्मोंके

व्याकरणसे ही भगवान्‌के यश गुणधर्मकी सिद्धि हो पायेगी. अतः वेदस्तुति निरूपित विषय भगवद्‌यश वर्णनार्थ है.

दशमस्कन्धके वेदस्तुतिके निरूपणके पूर्व आते अध्यायोंमें प्रमाणरूप बलरामजीके ऊपर प्रमेयरूप भगवान्‌का सुभद्राहरणके प्रसंगमें प्रभाविता देखनी मिलती है. तद्विपरीत वेदस्तुतिमें प्रमाणरूप श्रुति प्रमेयरूप भगवान्‌को जगानेके लिए प्रयत्नशील हो रही हैं. श्रुतियोंद्वारा की जाती भगवान्‌की स्तुतिका प्रयोजन है प्रभुको योगनिद्रासे जगाना तथा अन्तःस्थित नाम-रूप-कर्मोंको प्रकट करवाना. तात्पर्य यह है कि प्रमाणद्वारा निरूपित होनेपर ही प्रमेयका स्वरूप बुद्धिगोचर बन पायेगा. उपरोक्त प्रकारसे देखें तो भागवतके परिप्रेक्ष्यसे प्रमाण (क्रिया-रूप) एवं प्रमेय (ज्ञान-नाम), इन दोनों रूपोंमें भगवान्‌की लीला ही वर्णित हुई है.

वेदस्तुतिके आध्यात्मिक पक्षका यदि विचार किया जाए तो भागवतके प्रथम स्कन्धमें व्यासजीको हुए असंतोषका निरूपण आता है. असंतुष्ट होनेपर उन्होंने नारदजीकी प्रेरणासे समाधिमें भगवान्‌की लीलाके दर्शन किये. उसी समाधिकी अवस्थामें उन्होंने श्रुतियोंद्वारा की गई भगवान्‌की स्तुतिका भी श्रवण किया तथा उसीके आधारपर भागवतके अन्तर्गत वेदस्तुतिका समावेश किया गया. भागवतके वर्णनीय विषयके रूपमें वेदस्तुति उपनिषदोंके बाद प्रकट हुई है, किन्तु स्वतन्त्ररूपसे यदि देखें तो वेदस्तुति उपनिषदोंका प्रियेम्बल् है; क्योंकि सृष्टिके उत्पन्न होनेसे पूर्वकी घटना है.

श्रुतिप्रदिपादित तत्त्वमीमांसाको दो प्रकारसे समझा जा सकता है:

(२)

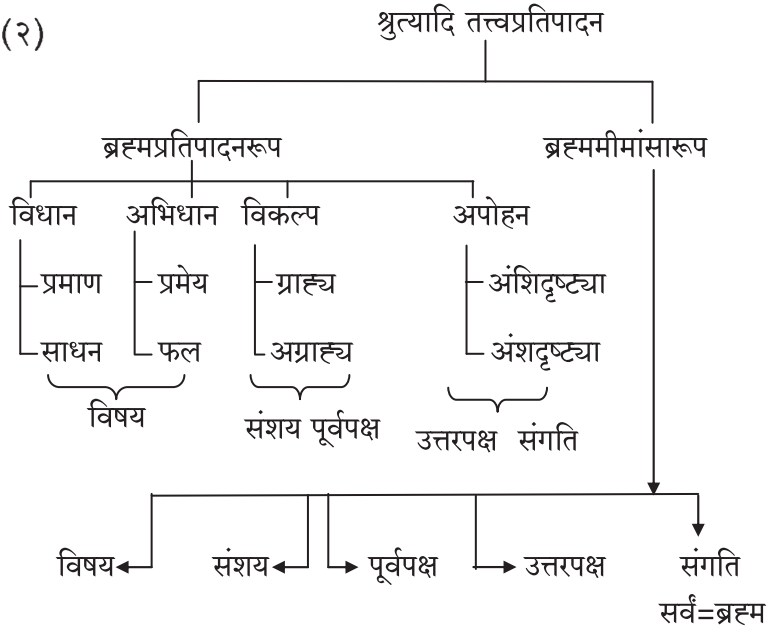

उपरोक्त प्रकारोंसे उपनिषद् ब्रह्मस्वरूपका प्रतिपादन करते हैं; परन्तु ब्रह्मसूत्रकी शैली इससे भिन्न है. ब्रह्म ही निरूपणीय होनेके बावजूद भी निरूपणकी शैलीमें निम्नलिखित प्रकारके अनुसार भेद देखा जा सकता है :

(१) विषय : प्रमाणावलंबी ब्रह्मके प्रमेय तथा फलरूप का निरूपण करना ब्रह्मसूत्रका विषय है.

(२) संशय : उपनिषद् प्रतिपादित विषयके बारेमें होते विकल्पके कारण ग्राह्य एवं अग्राह्य पक्षका विकल्प संशय बनता है.

(३) पूर्वपक्ष : विकल्पके अग्राह्यपक्षका चयन करनेके कारण पूर्वपक्ष उपस्थित होता है.

(४) उत्तरपक्ष : विकल्पान्तर्गत ग्राह्यपक्षका चयन करनेको उत्तरपक्ष

उपस्थित होता है.

(५) संगति : ब्रह्मकी सर्वरूपतामें ये उपरोक्त सभी प्रकार एकसूत्रित हो जाते हैं. यही संगति है.

उपरोक्त प्रकारके अनुसार उपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्र ब्रह्मके तात्त्विकस्वरूपका निरूपण करते हैं. यही ब्रह्मज्ञान जीवके ज्ञानके विषयतया विद्या एवं अविद्याशक्तिके फॉर्मेट्में आता है. साधनावस्थामें ज्ञानकी प्राप्ति बौद्धिकरूपसे होती है, अनुभूतिकी कक्षापर नहीं.

ब्रह्मजिज्ञासाके २ मॉडल् समझे जा सकते हैं:
(३)

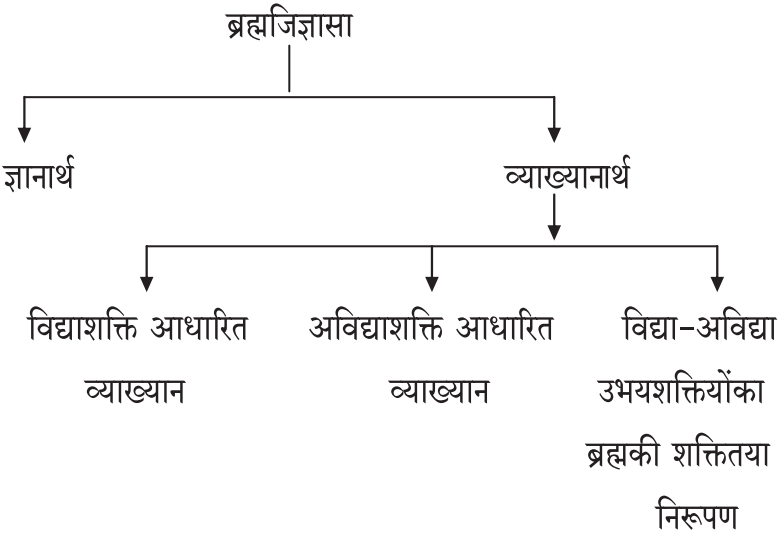

इस फॉर्मेट्में ब्रह्मज्ञानके हेतु प्रकट की गई जिज्ञासाका एक मॉडल् नचिकेता है. उपनिषद्में नचिकेताके चरित्रमें कहा गया

है कि नचिकेता यमराजसे यह पूछते हैं कि वे मृत्युका रहस्य जानना चाहते हैं. मृत्युके बाद वे रहेंगे या नहीं रहेंगे, यह उनकी जिज्ञासा थी. उत्तरके रूपमें यमराज नचिकेताको ब्रह्मस्वरूपका उपदेश देते हैं. इस वार्तालापमें निरूपित ब्रह्मस्वरूपका वर्णन उपनिषद्का फॉर्मेट् है. यमराज नचिकेताको ब्रह्मस्वरूपका ज्ञान देते हुए कहते हैं कि ब्रह्मके स्वरूपमें विद्या-अविद्या-ज्ञान-अज्ञान-भविष्य-भूत आदि ब्रह्मस्वरूके साथ अफिलियेटेड् नहीं हैं. ब्रह्मस्वरूपकी उपरोक्त विधान, अभिधान, विकल्प एवं अपोहनादिके साथ संगति बताते हुए वे ब्रह्मस्वरूपको 'ॐ'कारके रूपमें निरूपण करते हुए कहते हैं कि अ-उ-म; ये तीनों स्वर जिनमें एकरस हैं वही ब्रह्मतया निरूपित तत्त्व है. (नचिकेता उपाख्यान-कठोपनिषद्.१।१) वेदस्तुतिमें वर्णित भगवान्का स्वरूप योगनिद्राकी अवस्थाका है. वही स्वरूप योगनिद्राके जागनेके बाद (१) स्वरूपकोटि (२) कारणकोटि तथा (३) कार्यकोटिमें विभाजित होता है. अतः 'ॐ'कारमें कारणात्मक 'अ'ध्वनि, कार्यात्मक 'उ'ध्वनि तथा कार्यकारणातीत 'म्'ध्वनि है. ये तीनों ही ध्वनि अनादि-अनन्त है. नचिकेताके प्रश्नके उत्तरके रूपमें यमराजने ब्रह्मके इस कारणकार्यातीत स्वरूपका वर्णन किया है; क्योंकि कारणपदार्थ भी कार्यसापेक्ष है. अंतमें यमराज ऐसे कार्यकारणातीत ब्रह्मकी उत्पत्ति-स्थिति तथा लय में आलम्बनताको श्रेष्ठ बताते हुए ब्रह्मस्वरूपके ज्ञानसे मृत्युके भयकी निवृत्ति हो जानेका निरूपण करते हैं. मृत्युका भय बहुत्वज्ञानसे जनित है; अतः एकत्वका ज्ञान प्राप्त कर लेनेपर मृत्युका भय निवृत्त हो जाता है.

ब्रह्मज्ञान केवल जिज्ञासासे ही उपलब्ध नहीं होता, अपितु **''यमेव एषः वृणुते तेन लभ्यः''** (कठोप.१।२३) इस वचनमें कृपालभ्य ज्ञानमें ब्रह्मके स्वरूपको जाननेके अनेक उपाय बताए गए हैं. तथापि मनुष्यकी बुद्धि प्रारंभिक अवस्थामें ब्रह्मके स्वरूपको अनुभूतिके

आधार पर नहीं, परन्तु बौद्धिक ज्ञानद्वारा ही जान पाती है. अतः ऐसे कार्यकारणातीत स्वरूपका विवेचन नहीं करते हुए "**तस्माद् वा एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूत**" (तैत्ति.उप.२।१), "**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते**" (तैत्ति.उप.३।१) आदि व्याख्यानद्वारा मनुष्यको शाब्दबोधद्वारा ब्रह्मस्वरूपका उपदेश उपनिषद् करता है; ब्रह्मके मनो-वाक् अगोचर होनेपर भी. उपनिषद्की यही थीम् वेदस्तुतिके आध्यात्मिकपक्षतया दृष्टिगोचर होती है.

उपनिषद्की निरूपण शैलीमें मॅटाफिज़िकली श्रुतिगीता प्रियेम्बल् है. परन्तु भगवान्की आनन्दात्मिका लीलाको स्वीकार पानेमें हमारी बुद्धि असमर्थ होनेसे ब्रह्मकी सर्वरूपता ग्राह्य नहीं बन पाती है.

भगवान्की आनन्दात्मिका लीला दो प्रकारसे समझी जा सकती है:

(४)

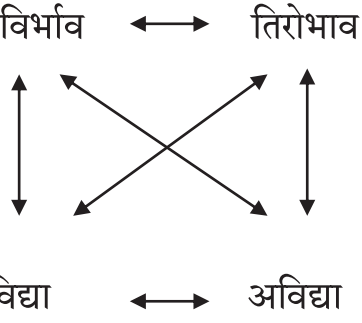

आविर्भाव एवं तिरोभाव; भगवान्की शक्ति हैं तथा इन शक्तियोंके संचालनसंप्रयोगका सामर्थ्य ईशके पास है, जीवके पास नहीं. विद्या एवं अविद्या भगवान्द्वारा जीवको प्रदत्त शक्तियां हैं; जिनका उपयोग जीव करता है. उपरोक्त चारों शक्तियोंद्वारा भगवान् ही जीवोंको मोहित कर रहे हैं. महाप्रभु आज्ञा करते हैं "**आविर्भावतिरोभावैः मोहनं बहुरूपतः**" (त.दी.नि.१।७२) ये चारों क्रियाएं स्वतन्त्र दिखाई

देती होनेके बावजूद भी साइमलटेनियसली चल रही है. जीवकी समझशक्ति एवं अवलोकनशक्तिकी त्रुटिके कारण जागतिक घटनाएं हमें आकस्मिक एवं अन्प्रेडिक्टेबल् लग रही हैं; परन्तु वस्तुतः भगवान्की विविध शक्तियोंके साथ रमणकी इच्छासे ही जीव अविद्याशक्तिद्वारा मोहित होता है तथा विद्याशक्तिके प्राप्त होनेपर भगवद्इच्छासे ही अपने उद्धारके मार्गको ढूंढ पाता है.

विद्या-अविद्या-मृत्यु-अमृतत्व; इन सभी प्रक्रियाओंके द्वारा भगवान् ही सृष्टिका नियमन करते हैं. देववादको स्वीकारनेका कारण यह है कि उपरोक्त विरुद्धधर्मोंको एक ही तत्त्वमें न स्वीकार पानेके कारण देवोंको शक्तिमान दयालु आदि गुणोंके साथ ही स्वीकारा गया है. यदि विरुद्धधर्मोंको इन्कोर्पोरेट् कर पानेके कारण ब्रह्मवादमें सभी विरुद्धधर्म ब्रह्मस्थानीय स्वीकार लिए जाएं, तो लीलात्मक दृष्टि स्पष्ट हो पाती है. क्योंकि भगवान् ही इन सभी रूपोंके द्वारा जीवको मोहित करते होनेसे भगवान्की शक्तिके प्रभावसे जीवका मोहित हो जाना स्वाभाविक ही है. परन्तु ब्राह्मिक परिप्रेक्ष्यमें यदि देखें तो विद्या-अविद्या-आविर्भाव-तिरोभाव-मृत्यु-अमृतत्व आदि सभी भगवान्की शक्तियां हैं. सृष्टिके प्रवाहको बनाए रखनेके लिए नितान्त आवश्यक प्रतीत होती हैं. विविधताओंके साथ प्रकट होनेकी भगवान्की इच्छा भले ही जीवकी परिच्छिन्न बुद्धिगम्य प्रतीत न होती हों; परन्तु श्रुतिकी यही अनुभूति उपनिषद्में दृष्टिगोचर होती है, क्योंकि श्रुति स्वानुभव वर्णित करती है तथा ब्रह्मसूत्र हमारे बौद्धिक ज्ञानकी मर्यादामें रह कर तत्त्वनिरूपण करता है.

सृष्ट्युत्पत्तिकी प्रक्रियाको समझाते हुए उपनिषद् कहते है कि **''जब आसपास कुछ भी नहीं था, तब वह ब्रह्मांडपुरुष मृत्युसे आवृत्त था. तब ब्रह्मांड पुरुषको इच्छा हुई और वह आत्मवान बना.**

तब ब्रह्मने उस ब्रह्मांडपुरुषके भीतर प्रवेश किया तथा तदुपरांत सृष्टि उत्पन्न हुई.'' (बृह.उप.१।२।१) **''तब उस पुरुषने कामना की कि मेरा दूसरा शरीर उत्पन्न हो. अतः उस अशनायारूप मृत्युने मनसे वेदरूप मिथुनकी भावना की तब वाणी प्रकट हुई.''** (बृह.उप.१।२।४) इसी विषयसे श्रुतिगीताका उपक्रम किया गया है. तदुपरांत क्रिया बोध तथा रति के फॉर्मेट्में भगवान्ने ३ आधारिक संरचनाएं (इन्फ्रास्ट्रक्चर्) प्रकट की तथा इन्हींके आधारपर तीन मार्ग प्रवर्तित हुए: कर्ममार्ग-ज्ञानमार्ग-भक्तिमार्ग.

कर्ममार्गकी उपनिषत्प्रोक्त ब्राह्मिकी आधारिक संरचना

उपनिषद् कहता है कि **''उसने पुनः कामना की कि मैं पुनः बड़े यज्ञसे यजन करुं...''** (बृह.उप.१।२।६,७) — इसी इच्छाके परिणामवश यज्ञात्मकसृष्टिका फॉर्मेट् आया जो कि कर्ममार्गका आश्रय है. पुनः कहा गया है **''प्रजापतिके दो पुत्र थे; देव और असुर...''** (बृह.उप.१।३।१) इस उपनिषद्वचनमें कही गई यज्ञकी प्रक्रिया ही सृष्टिकी फन्डामॅन्टल् प्रोसेस् है. अर्थात् जिन जीवोंने उस यज्ञमें श्रद्धापूर्वक आहुति दी, वे दैवी जीव हुए तथा जिन्होंने नहीं दी, वे आसुरी जीव हुए.

ज्ञानमार्गकी उपनिषत्प्रोक्त ब्राह्मिकी आधारिक संरचना

उपनिषद् कहते हैं **''पहले यह पुरुषाकार आत्मा ही था. उसने आलोचन करनेपर अपनेसे भिन्न किसी औरको न देखा तथा उसने आरम्भमें 'अहम् अस्मि' ऐसा कहा. इसीलिए वह 'अहम्' नामवाला हुआ....क्योंकि सबसे पूर्ववर्ती उसने समस्त पापोंको दग्ध कर दिया था...''** (बृह.उप.१।४।१) **''वह भयभीत हो गया. इसीसे अकेला पुरुष भय प्राप्त करता है. उसीने यह विचार किया कि यदि मेरे अलावा कोई दूसरा नहीं है तो मुझे किससे डरना चहिये? तब**

उसका भय निवृत्त हुआ. क्योंकि भय तो दूसरेसे होता है...'' (बृह.उप.१।४।२) इसी द्वित्वबोधके कारण होते भयका निरूपण नचिकेता एवं यमराजके संवादमें किया गया है. यही मृत्युसे भयभीत होनेका कारण है. ज्ञानमार्गमें द्वित्वबोध ही भयका कारण है. द्वैतभावका नाश तथा अद्वैतबोध ही भयनिवृत्तिका उपाय होनेसे ज्ञानमार्ग ब्रह्मस्वरूपके ज्ञानद्वारा अद्वैतका साक्षात्कार करनेके लिए प्रयत्नशील होता है.

भक्तिमार्गकी उपनिषत्प्रोक्त ब्राह्मिकी आधारिक संरचना

उपनिषद् कहता है **''वह रममाण नहीं हुआ. इसीसे एकाकी पुरुष रममाण नहीं होता है. अतः उसने अपने देहको ही दो भागोंमें विभक्त किया...''** (बृह.उप.१।४।३) यही रमणके परिप्रेक्ष्यसे भक्तिमार्गीय कन्सेप्ट् डॅवलप् होता है; भगवान् एवं भक्त को परस्पर एक-दूसरेकी आकांक्षा होनेके सन्दर्भमें.

''उस प्रजापतिने मैं ही सृष्टि हुं ऐसा जाना. मैनें ही सबको रचा है. तब वह 'सृष्टि' नामवाला हुआ...'' (बृह.उप.१।४।५) उपरोक्त निरूपणके अनुसार ब्रह्म स्वयं ही सृष्टि एवं स्रष्टा; इन दोनों ही भेदसे प्रकट हुआ. उसी ब्रह्ममेंसे फिर क्रमशः कर्म एवं चारों वर्ण प्रकट हुए.

नाम-रूप-कर्मका विभाग

उपनिषद् कहता है **''यह जगत् उस समय अव्याकृत था. वह नाम-रूपके योगसे व्यक्त हुआ. अर्थात् यह इस नाम और इस रूप वाला हुआ....''** (बृह.उप.१।४।७) वेदस्तुतिमें उपनिषत्प्रोक्त प्रक्रियाके अनुसार ही श्रुतियां भगवान्से व्याकृत होनेकी इच्छा प्रकट कर रही हैं. श्रुतियां कहती हैं कि ब्रह्म यदि अपने मनो-वाङ्गोचर स्वरूपको नाम-रूप-कर्मके विभागमें व्याकृत करे, तो ही ब्रह्मका

स्वरूप मन एवं वाणीसे गोचर बन पाएगा. महाप्रभु इसी सन्दर्भसे **''नमो भगवते तस्मै कृष्णायाद्भुतकर्मणे रूपनामविभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः''** (त.दी.नि.१।१) तत्त्वार्थदीपनिबंधके इस मंगलाचरणद्वारा भगवान्के स्वरूपका वर्णन कर रहे हैं.

उपरोक्त श्रुतिवचनोंमें भगवान्द्वारा उत्पन्न सृष्टिमें कर्म ज्ञान तथा भक्ति मार्गकी आधारिक संरचनाएं सृष्ट्युत्पत्तिसे पूर्वकी भगवान्की इच्छारूप भूमिकाके अर्थमें निरूपित हुई हैं. उसी प्रकार नाम रूप एवं कर्म के विभागद्वारा ब्रह्मस्वरूपको मनो-वाङ्गोचर बनानेकी उपनिषद्की भूमिका भी वेदस्तुतिके सन्दर्भमें दृष्टिगोचर हो रही है. यही वेदस्तुतिका आध्यात्मिक तत्त्वदृष्टिसे प्रतीत होता प्रियेम्बल् है, जो कि उपनिषद्में दृष्टिगोचर हो रहा है.

वेदस्तुतिकी ज्ञानमीमांसा (ॲपिस्टेमोलॉजी)

भारतीय चिन्तनप्रणालीमें उपनिषद्द्वारा वर्णित ब्रह्मके अनेक स्वरूपोंमें विरुद्धधर्माश्रयताका स्वीकार करनेके कारण विविधदृष्टियोंके प्रति स्वीकृतिका भाव देखा जाता है. परन्तु अन्य अभारतीय चिन्तन प्रणालियोंको यदि देखें तो पश्चिमी दर्शनकी ज्ञानमीमांसाकी प्रणाली भिन्न देखी जाती है.

पश्चिमी दर्शनकी दार्शनिकतत्त्वदृष्टि

मध्यकालीन पश्चिमी दर्शनमें विचारकी दो परम्पराएं हैं:

(१) **रियालिज़म् :** रियालिस्टिक् चिन्तनपरंपरामें उत्पन्न तथा दृष्टिगोचर होते जगत्को सत्य माना गया है. (वाल्लभवेदान्त माध्ववेदान्त तथा नैयायिकों के दर्शनके समान जगत्की सत्यता स्वीकारी गई है.)

(२) **आईड्यालिज़म् :** आईड्यालिज़म्की थियरीमें मनुष्यबुद्धिके आईड्याज़्का ही बाहरी विश्वमें प्रोजेक्शन् स्वीकारा गया है.

भारतीय चिन्तनप्रणालीकी विशिष्टता यह है कि सभी चिंतकोंने एकमेवाद्वितीय ब्रह्मका स्वीकार करते हुए मात्र जगत्के साथ ब्रह्मके द्वैत अथवा अद्वैत के सम्बन्धको ले कर ही मतभेद प्रकट किये है. तथापि पारस्परिक विविधताओंको (कोन्ट्राडिक्शन्स्) स्वीकारनेकी ओपननेस् भारतीय दर्शनमें देखी जाती है.

पश्चिमीदर्शनमें अन्य २ ज्ञानदृष्टि विचारधारा आयीं:

(१) **रेशनलिज़म् (बुद्धिवाद) :** बुद्धि ही ज्ञानग्राहिका है क्योंकि विचार करना यह आत्माका गुण माना गया है.

(२) **इम्पिरीसिज़म् (प्रत्यक्षवाद) :** विचार करनेसे नहीं, अपितु प्रत्यक्षद्वारा ही जगत्का स्वरूप समझा जा सकता है.

भारतीय चिन्तनप्रणालीमें बुद्धि प्राकृततत्त्व होनेसे जड़ है. अतः भारतीयदर्शनमें ब्रह्मज्ञानके हेतु तर्ककी निष्फलता बताई गई है. जगत्के नाम रूप तथा कर्म ने अपने ग्लोबल् कॅरेक्टर्को छोड़ कर पर्टिक्युलर् कॅरेक्टर् स्वीकार लिया होनेसे जीवबुद्धिसे उनका विचार किया जा सकता है. नाम-रूप-कर्म परिच्छिन्न होनेसे ही बुद्धिगोचर बन पाते हैं, अन्यथा नहीं. यदि ब्राह्मिक परिप्रेक्ष्यमें वे अपनी अपरिच्छिन्नता प्रकट करें, तो वे बुद्धिग्राह्य नहीं रह जाएंगे. इन सभी विचारपरम्पराओंकी मर्यादाओंके सन्दर्भमें ब्रह्मवादमें प्रकृति-पुरुष तथा काल, इन तीनोंको ही ब्रह्मरूप स्वीकारे गए होनेसे उपरोक्त पश्चिमीदर्शनद्वारा प्रकटित उद्भावनाएं स्वीकृत हैं. महाप्रभु अतएव आज्ञा करते हैं **''सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि तद् अनन्तमूर्तिः तद् ब्रह्म कूटस्थं चलमेव च''** (त.दी.नि.१।७०)

इम्पिरीसिज़मकी विचारप्रणालीमें ज्ञानप्राप्तिकी प्रकियाके तीन स्तर प्रस्तुत किये गए हैं :

(१) सेन्सेशन् - दिखाई देनेवाले इन्द्रियगोचर पदार्थोंका अनुभव.

(२) पर्सेप्शन् - जो पदार्थ जैसा दिखाई दे रहा है उसका तथैव अनुभव.

(३) कन्सेप्शन् - बौद्धिक समझके आधारपर पदार्थानुभव.

उपरोक्त प्रकारोंमेंसे ज्ञानके किस प्रकारको यथार्थ स्वीकारा जाए, इस विषयमें विचारकोंको संशय है. इम्पिरीसिज़म्की विचारप्रणालीके अनुसार भारतीयदर्शमें भी प्रत्यक्षकी प्रमाणरूपता स्वीकारी गई है. प्रत्यक्षमें सविकल्पक ज्ञानके प्रभेदको न स्वीकारते हुए भगवान् बुद्ध तथा श्रीशंकराचार्यने निर्विकल्पक ज्ञानको ही स्वतःसाक्षी स्वीकारते हुए प्रमाणरूप माना. भगवान् बुद्ध एवं श्रीशंकराचार्यके मतानुसार वर्बल् इन्फॉर्मेशनके साथ बोली गयी अनुभूति अप्रमाण है. अतएव भगवान् बुद्धने वेदका प्रामाण्य नहीं स्वीकारा है. शाब्दबोधको भी सविकल्पक होनेसे अप्रमाण माना है.

श्रुतिगीतामें भी परीक्षितको यही संशय है कि यदि ब्रह्म निर्गुण है तो श्रुतियोंद्वारा निरूपित वह कैसे हो सकता है? उपरोक्त चिन्तनप्रणालियोंको दृष्टिपथमें रखनेपर यह समझा जा सकता है कि यदि ज्ञानकी प्रक्रियाके ऊपर विश्वास ही न रखें तब तो ज्ञान हो पाना ही सम्भव नहीं रह जायेगा. अतः वैज्ञानिकोंकी शैलीमें ३ प्रकारसे ज्ञानप्राप्तिकी प्रकियाकी वेलिडिटीका विचार किया गया है:

(१) अनधिगतार्थ ज्ञान - ऐसा ज्ञान जो अद्यावधि हमें प्राप्त ही नहीं था किन्तु नूतन है.

(२) ज्ञानका ऐसा प्रकार कि जिसमें परस्पर संगति प्राप्त होती हो.

(३) पदार्थ जैसा प्रतीत होता है, उसी अवस्थामें उसके उपयोगका भी विचार करना.

उपरोक्त तीनों ही ज्ञानके प्रकार स्वीकारे गए हैं परन्तु आधुनिककालमें उपरोक्त कोई भी प्रक्रिया ज्ञानका साधन नहीं बन पाती है. महाप्रभु बुद्धिद्वारा उत्पन्न सभी ज्ञान राजस माने हैं क्योंकि बुद्धि स्वयं मुख्यतया राजसी गुणवाली होनेपर भी गुणोंके क्षोभके कारण सत्त्व-रज तथा तमस्, इन तीनों ही गुणोंको प्रकट करती है. उन सभी प्रक्रियाओंमेंसे सात्त्विक ज्ञान प्रमाण है; अन्य सब प्रमाणमूलक नहीं है. भगवान् गीतामें आज्ञा करते हैं "**सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्.**" (भग.गीता १४।१७)

उपरोक्त विचारधाराओंको ध्यानमें रखते हुए बौद्धिक विचारप्रणालियोंके भेदको ध्यानमें रखते हुए भी श्रुतिगीताको सोचा जा सकता है. ब्रह्मज्ञानप्राप्ति करनेमें शब्द प्रमाणमूलक है या नहीं; अथवा अनुभवातीत तथा स्वेच्छा अनुभूतिगोचर ब्रह्म मनुष्यकी क्षुद्र बुद्धिद्वारा विचारित अथवा स्वयं श्रुतियोंद्वारा निरूपित हो सकता है या नहीं, ये सभी पक्ष वेदस्तुतिके ॲपिस्टेमोलॉजिकल् पक्षका विचार करते हुए सोचे जा सकते हैं. क्योंकि यदि सामान्य जागतिक पदार्थोंके ज्ञानार्थ भी इतनी विविध शंकाशील प्रणालियां यदि हो सकती हैं तो ब्रह्मज्ञानकी प्रक्रियाके विषयमें मनुष्यकी क्षुद्र बुद्धिकी विचारसामर्थ्य कितनी और कहां तक विश्वसनीय हो पायेगी! यह भी विचारणीय बनता ही है.

श्रुतिगीताका यही ज्ञानमीमांसाका पक्ष परीक्षितके प्रश्नमें तथा श्रुतियोंद्वारा की जाती स्तुतिमें दृष्टिगोचर हो रहा है.

अनेक चिन्तकोंने ज्ञानप्राप्तिकी यथार्थ प्रक्रियाकी एनालिसिस्में बुद्धि और चैतन्य को कभी एकसाथ या कभी मात्र बुद्धिको प्रमाण माना है. सांख्यकी विचारप्रणालीके अनुसार चैतन्य साक्षीमात्र

है. सभी व्यवहार लाईफ् तथा कोंशियसनेस् के पारस्परिक सम्बन्धसे चलते हैं. समझमें अनुभव तथा अनुभवमें समझ का कोलॅबरेशन् स्वीकारा गया है. एपिस्टेमोलॉजीकी समस्या नाम रूप तथा कर्म के लिए अपनी अपेक्षाएं हैं, उनके स्वरूप नहीं.

नाम 'कन्सेप्ट्' है तथा रूप 'पर्सेप्ट्' है. रूप नामके द्वारा एक्स्प्रेस् होता है; जिसे शब्द/ध्वनिद्वारा आउटलेट् मिलता है. सभी पर्सेप्ट्स अपने अंदर नाम बने हैं और नाम बननेके बाद उनका आउटलेट् आता है. पर्सेप्ट् दिखलाई देते हैं तब कन्सेप्ट् उत्पन्न होते हैं. कन्सेप्ट्को आउटलेट् देनेके लिए प्रेशराइज़् करते हैं तथा तदुपरांत नाम एवं रूप दर्पणमें पड़ते बिम्बके प्रतिबिम्बकी तरह आउटलेट् पाता है.

(५)

आत्मा = शरीरवान्

शरीर = आत्मवान्

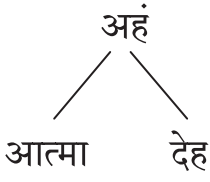

उपरोक्त तालिकामें निर्दिष्ट प्रकारके अनुसार ही नाम-रूपद्वारा वर्णित ब्रह्मके निर्गुणस्वरूपमें सगुणश्रुतियोंके वर्णनकी सत्यताका ही प्रश्न वेदस्तुतिके सन्दर्भमें उपस्थित हो रहा है. भगवान् बुद्ध इसी कारणवश किसी भी रूपकी स्थायी सत्ता अस्वीकार करते हैं. क्योंकि भगवान् बुद्धके दर्शनके अनुसार हमारे द्वारा बोले जाते नाम, वस्तुतः रूपका वर्णन करते ही नहीं है, क्योंकि वर्णित

पदार्थकी क्षणिकसत्ता स्वीकारी गयी होनेसे शून्यवादके सिद्धान्तके अनुसार वस्तुसत्ता रह ही नहीं जाती है. प्रस्तुत रूपका विशिष्ट नाम तथा यही स्वरूपका ऐसा नाम होना वास्तविक न हो कर हमारी बुद्धिकी उपजमात्र है; क्योंकि कोई भी रूपका तो अपने आपमें कोई फॉर्म् होता ही नहीं है.

पदार्थका स्वरूप एक होते हुए भी ज्ञाप्य-ज्ञापकभावके कारण उसके अनन्तभेद हो जाते हैं. एक ही पदार्थका प्रतिबिम्ब भिन्न-भिन्न आता है. जैसे एक ही अनुग्रहका प्रतिबिम्ब पुष्टिजीव मर्यादापुष्टिजीव तथा प्रवाहिपुष्टिजीवमें भिन्न-भिन्न पडता है. इन्हीं प्रतिबिम्बोंके प्रभेदके कारण जगत्स्वरूपके विषयमें ब्रह्मके प्रतिबिम्ब भी सभी विचारकोंने अपने भिन्न-भिन्न मन्तव्य प्रकट किये हैं. भारतीय चिन्तनप्रणालीमें मुख्य ३ भेद देखे जा सकते हैं:

(१) द्वैतघटित प्रतिबिम्ब
(२) अद्वैतघटित प्रतिबिम्ब
(३) तादात्म्यघटित प्रतिबिम्ब

महाप्रभु तादात्म्यघटित प्रतिबिम्बका स्वीकार करते हैं. नाम तथा रूप भगवान्के ही सत् तथा चित् के प्रतिबिम्ब है, किन्तु सभी जीव अपनी कॅपेसिटी तथा टेन्डेन्सिके अनुरूप उन सत् तथा चित् को स्वस्वरूपमें प्रतिबिम्बित कर पाते हैं. परीक्षितको भी यही संशय है कि सगुणद्वारा निर्गुणका निरूपण कैसे किया जा रहा है. इस संशयको तादात्म्यवादके सिद्धान्तको जान कर निवृत्त किया जा सकता है. क्योंकि जगत्की सिस्टम्में यदि कोई दोष हो या फिर दूष्य हो, तो भी दोनों ब्रह्मके ही गुण होनेसे संशयकी ही सम्भावना नहीं रह जायेगी. सकारात्मक एवं नकारात्मक दृष्टियोंके भेदसे उपरोक्त सिद्धान्तको समझा जा सकता है.

नाम तथा रूप में नामको सविषय बननेके लिए रूपकी आवश्यकता है तथा रूपको विषयतया सिद्ध बननेके लिए नामकी प्रकारकताकी आवश्यकता है. परिच्छिन्न नाम-रूपको कम्बाईन् करते हुए उन जुडे हुए पदार्थोंसे कोई विशेष सम्बन्धमें ही जोड़ कर जानना हमारी समस्या है, ब्रह्मकी नहीं, क्योंकि ब्रह्मके तो अनन्त फॉर्मेट्स् हैं. ब्रह्मके सत् चित् और आनन्द के, प्रकृतिके सत्त्व रज तथा तम के भी अनन्त फॉर्मेट् हैं. सभी धर्म दर्शन सम्प्रदाय आदि अपना अपना फॉर्मेट् चुन लेते हैं. महाप्रभुके अनुसार ब्रह्म ही सभी नाम-रूपोंको धारण करता होनेसे सभी रूपोंमें ब्रह्म ही है. मनुष्य अपनी बुद्धिसे उन नाम-रूपोंका विचार करता है; अतः ब्राह्मिकी दृष्टिके अभावमें मनुष्यकी परिच्छिन्न बुद्धि उन नाम-रूपोंको समझ नहीं पाती है, परन्तु वस्तुतः ब्रह्मके लेवलपर सभी विविधताएं सहज सम्भव हैं.

उपनिषद् इसी नाम-रूपकी उत्पत्ति प्रक्रियाका निर्देश करते हुए कहता है कि पहले यह सब कुछ हायबर्नेशन्की तरह मृत्युसे आवृत था. कार्य तथा कारण दोनों ही सत् होते हुए भी हायबर्नेशन्की तरह आवृत्त थे; अतः प्रकट नहीं थे. उस अवस्थामें भगवान्के ही अंदर जाग्रत अवस्थामें स्थित प्रमाणने भगवान्को जगाया, इन्ट्रोस्पेक्शन्की प्रक्रियाकी तरह. तब भगवान् अपनी महिमासे जगे तथा प्रजा को उत्पन्न किया. उस स्वरूपको उपनिषद् 'आभु' कहता है. उत्पन्न होनेके बावजूद भी वो आभु परार्ध रहा, जिसे शास्त्र "**यतो वाचो निवर्तन्ते**" (तैत्ति.उप.२।९) वचनद्वारा कहते है. उस आभुने जब नाम-रूपोंको प्रकट किया तब प्रत्येक रूपको एक नाम दिया गया. भगवान्ने उन नाम-रूपवाला इनफ्रास्ट्रक्चर् ही ज्ञाप्य-ज्ञापकभाववाला बनाया. उस रूपमें ब्रह्मने विरुद्धधर्माश्रयतायुक्त व्यवहारमें परिच्छिन्नता प्रकट की तथा बौद्धिक रूपसे ज्ञानमें वो

अपरिच्छिन्न रहे. ब्रह्म अपने स्वरूपमें वस्तुतः एक होते हुए भी अतएव तीन हैं तथा तीन होते हुए भी एक है. यही अनिर्देश्यकी निर्देश्यता है.

लाइफ् तथा कोंशियसनेस् का इन्टॅरॅक्शन् यहां भी दिखाई देता है. विज्ञाता विजिज्ञास्य तथा अविज्ञात की त्रितयात्मकताका निरूपण उपनिषद् करता है.

(१) विज्ञाता - ज्ञाता होनेके साथ बोध करवानेकी भी सामर्थ्यवान् होना. (नोअर् अलोंग् विथ् एक्सप्लेनेशन् पावर्)

(२) विजिज्ञास्य - विज्ञाता जिस विषयको जानना चाहता है, वह विषय. (मनके होनेपर ही जिज्ञासा प्रकट होती है.)

(३) अविज्ञात - वाणी ही अविज्ञातकी रक्षा करती है. सचेतन यदि कोई है, तो ही अविज्ञात भी कुछ रह जाता है. प्राणके नहीं होनेपर तो अविज्ञात भी कुछ नहीं रह जाता है.

जिज्ञासा ही जीवनकी ड्राइव् है. जिसे उपनिषद् ब्रह्मकी भी मूल जिज्ञासा - **''तद् द्वितीयम् ऐच्छत''** द्वारा कहना चाहता है. यहां ज्ञानमें लाइफ् और कोंशियसनेस् का परस्पर इन्टरेक्शन् ही कारण बताया गया है.

ज्ञानप्राप्तिके साधनके रूपमें कुछ विचारकोंने यद्यपि प्रत्यक्षको स्वतःप्रमाणतया स्वीकारा है किन्तु प्रत्यक्ष अपनी इन्द्रिय एवं पदार्थ/विषयके बीच होते सन्निकर्षसे जन्य ज्ञान है; जिस ज्ञानके ऊपर इन्द्रियोंकी परिस्थितिका प्रभाव पडता है. उसी प्रकार यदि कोई बुद्धिवादी बन कर तर्कको/रीज़निंगको प्रमाणतया स्वीकारते हों तो वो तर्क/रीज़निंग भी बुद्धिजन्य होनेसे प्रमाणमूलक नहीं मानी जा सकती है. ज्ञानप्राप्तिकी प्रक्रियामें प्राणके होनेतक कुछ अविज्ञान रहेगा, मन है तबतक जाननेकी जिज्ञासा होगी तथा वाणीद्वारा पदार्थकी अविज्ञातता सिद्ध

हो पायेगी.

नाम भेदक है तथा भिन्न नामोंके होनेसे ही रूप भिन्न हो जाते हैं. नामसे रूपके साथ होते इन्टॅरॅक्शन्में नाम भेदक है तथा रूप भिन्न है. रूपसे नामके होते इन्टॅरॅक्शन्में रूप एक होते हुए भी उसके नाम अनेक हो सकते हैं. अतः इन्टॅरॅक्शन्में भेदक तथा भिन्नका सम्बन्ध नहीं है. अतः नाम (एक्सप्रेशन्-बृहती) है और रूप (ब्रह्म) ऑब्जेक्ट् है.

(६)

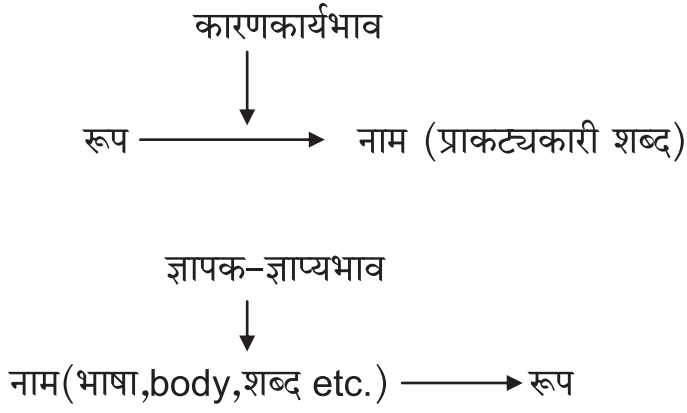

उस विस्तार प्राप्त रूपको 'बृहती' कहा गया है, जो व्याकृत हुआ है. बृहतीके एकचौथाई (१/४) भागसे जगत् उत्पन्न हुआ है तथा तीनचौथाई (३/४) भाग अव्याकृत-सूक्ष्म ही रहता है. उस जगत्रूपको डिस्क्राइब् करनेके लिए महाप्रभुके अनुसार मनुष्यकी वाणी शत-प्रतिशत् रिलायेबल् भी नहीं है; उसी प्रकार सर्वथा अप्रमाणरूप भी नहीं है. श्रीपुरुषोत्तमजी इसे 'अर्धजरतीय' कहते हैं. महाप्रभुके अनुसार पर्सेप्शन् सर्वदा प्रामाणिक नहीं होता है. क्रियाशक्ति तथा ज्ञानशक्ति, ये दोनों ही शक्तियां पर्सेप्शन्

एवं कन्सेप्शन्के लेवल पर कार्य करते हैं, अतः इन्टरेक्टिंग् मोड्में अपना जीवन चलता है.

प्रथम अधिकरण **''अथातो ब्रह्मजिज्ञासा''**में महाप्रभुके अनुसार ब्रह्मकी इन दोनों शक्तियोंके विषयमें ही जिज्ञासा प्रकट की गई है. परीक्षितके प्रश्नमें भी ब्रह्मकी क्रिया-ज्ञानशक्तिकी ही जिज्ञासा प्रकट हुई है. पूर्वाध्यायमें निरूपित वृत्तान्तमें श्रुतदेव ज्ञानशक्तिके प्रतीक हैं, तथा बहुलाश्व भगवान्की क्रियाशक्तिके प्रतीक हैं. ये दोनों ही फिनोमिना भगवान्के ही २ प्रोडक्ट् हैं. उन दोनोंको भगवान्की अर्थात् अपनी आधारिक संरचनाकी (इनफ्रास्ट्रक्चर्की) जिज्ञासा है. उन दोनों शक्तियोंके इन्टॅरॅक्शन्से उत्पन्न **''जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्''** (ब्र.सू.१।१।२) सूत्रमें भी क्रियाशक्ति एवं ज्ञानशक्ति की ही जिज्ञासा है, जो वेदस्तुतिके पूर्वाध्यायमें निरूपित है. उस उत्पन्न रूपके विषयमें ही परीक्षितने अनिर्देश्यके निर्देश्य बननेके विषयमें ब्रह्मस्वरूपके वर्णनमें श्रुतिद्वारा निरूपित वाणी कितनी प्रमाणमूलक है, यही जिज्ञासा प्रकट की है. क्योंकि उस निरूपणमें भी पार्शियली ब्रह्म ही निरूपित हो रहे है.

आनन्दरूप ब्रह्म (आभु)के एकचौथाई (१/४) भागका आविर्भाव (रिवीलेशन्) नाम-रूप-कर्मात्मक यह जगत् है. इनमें नाम भी उत्पत्ति-स्थिति-लययुक्त है, रूप भी उत्पत्ति-स्थिति-लययुक्त है तथा क्रिया भी उसी प्रक्रियासे प्रकटी है. वेदस्तुतिमें उन्हीं नाम-रूप-कर्मके व्याकरण हेतु श्रुतियां ब्रह्मको जगानेका उद्यम कर रही हैं कि जिससे वह निर्देश्य-वाच्य बन सके है.

वेदस्तुतिकी प्रथम कारिकामें शुकदेवजी उत्पन्न स्वरूपको मात्रा, भव तथा आत्मा; इन तीन भेदोंसे समझाते हैं. 'मात्रा' विषय है, जिनके लिए इन्द्रियाँ प्रकट हुई हैं तथा आत्माके लिए मन

प्रकट हुआ है. अतः आनन्द प्राप्त्यर्थ औपनिषदिक प्रक्रिया है:

प्राण→मन→बुद्धि→ब्रह्म (आनन्द)

ब्रह्मज्ञान प्राप्तिके हेतु, अतएव इतना ही अपेक्षित है कि नाम-रूप-कर्म यदि दिखलाई दे रहे हैं, तो उन्हें उत्पन्न करनेवाला ब्रह्म है. उन नाम-रूपोंका वर्णन करने शृंगग्राहिकान्यायसे ब्रह्मसूत्र ईक्षत्यधिकरण है.

ज्ञानप्राप्तिकी दो प्रक्रियाएं हैं :

(१) कोनोटेशन् : गुणधर्मोंका निरूपण करते हुए विषयके स्वरूपको द्योतित करनेकी प्रकिया.

(२) डिनोटेशन् : पदार्थका प्रत्यक्ष करवाके स्वरूपको प्रतिपादित करना.

नाम-रूप-कर्म द्वारा ब्रह्मके स्वरूपको समझाना कॉनोटेशन्की (नाम-रूप-कर्म ब्रह्मके गुणधर्म होनेसे) प्रक्रिया है तथा "तत् त्वम् असि" कहना डिनोटेशन्की प्रक्रिया है. बुद्धने कॉनोटेशनकी प्रक्रियाको ज्ञानप्राप्तिकी प्रक्रियाके रूपमें अप्रमाण माना है तथा डिनोटेशन् अर्थात् निर्विकल्पक प्रत्यक्षको ही प्रमाणतया स्वीकारा है. महाप्रभुके मतानुसार सदंशद्वारा कर्मेन्द्रियका एकचौथाई (१/४) व्याकरण होता है तथा चिदंशद्वारा ज्ञानेन्द्रियका एकचौथाई (१/४) व्याकरण होता है. इन दोनोंके इन्टॅक्शन्का व्यापार मन-बुद्धि-चित्त तथा अहंकारद्वारा संचालित है.

यहां इस विषयमें यह शंका उत्पन्न होती है कि भोक्ताका भोग्यमें प्रविलापन स्वीकारा जाये, या भोग्यका भोक्तामें प्रविलापन स्वीकारें.

भोग्यका भोक्तामें प्रविलापन प्रलय है.
भोक्ताका भोग्यमें प्रविलापन संसार है.

महाप्रभुके अनुसार उपरोक्त दोनों ही पक्ष अतिशयोक्तिपूर्ण

होनेसे इन्हें इतरेतरापेक्षित स्वीकारने चाहिए. नाम तथा रूप का इन्टरॅक्शन् अंकुरण है तथा दोनोंका इतरेतरापेक्षित हो जाना मल है, क्योंकि ऐसी इतरेतरापेक्षा रतिमें मलिन होती है. उस रतिको परिभाषित करते हुए उपनिषद् कहते हैं कि प्रजापतिने जब अपने द्वारा उत्पन्न जगत्को देखा, तो वे स्वयं ही मोहित हो गए. उस रूपको प्रजापतिने इन्स्पेक्ट् किया. वह रूप सत्य तथा अनृत होकर उत्पन्न हुआ. सत्यरूपमें ब्रह्मने श्रद्धाको (पावर ऑफ् एक्सेप्टन्स्) स्थापित की तथा अनृतमें अश्रद्धाको (पावर ऑफ् डिनायल्) स्थापित की. क्योंकि वह अनृतरूप अपने मनमें रहा हुआ एक मानसिक कन्सेप्शन् है. ब्रह्मके अंशमें रूपके कारण दृष्टिका व्याकरण होता है तथा अंशी ब्रह्ममें दृष्टिसे रूपका व्याकरण होता है. इसे शुकदेवजी २ श्लोकोंमें निरूपित कर रहे हैं. भगवान्ने मन-वाणी प्रकट करते हुए अपने रूपको प्रकट किया. अंशीमें ज्ञानप्रयुक्त भोक्तृत्व है तथा अंशमें कर्मप्रयुक्त भोक्तृत्व प्रकट होता है. ये क्रिया-ज्ञानरूप ब्रह्मका फॉर्मेट् तथा उस आधारित संरचनामें प्रकट हुए जीव (परीक्षित)की उस रूपको जाननेकी जिज्ञासा तथा वेदस्तुतिमें श्रुतियोंद्वारा निरूपित अनिर्देश्यके निर्देश्य होनेकी प्रक्रिया बताई गई है. वेदस्तुति भगवान्के अव्याकृत (अनरिवील्ड) रूपको भी नाम-रूप-कर्म द्वारा भगवान्द्वारा स्वेच्छया रिलीज़ करनेपर एकचौथाई भाग भगवान्ने व्याकृत/आविर्भूत किया है.

वेदस्तुति एवं ब्रह्मसूत्रके विषय निरूपणकी प्रकियाका तुलनातमक विचार

(१) वेदस्तुति परीक्षितके प्रश्नसे प्रारंभ हो रही है. (भाग.पुरा.१०।८७।१)

ब्रह्मसूत्रमें **''अथातो ब्रह्मजिज्ञासा''** सूत्रद्वारा विषयप्रवेश हो रहा है. (ब्र.सू.१।१।१)

दोनों ही ग्रंथोंमें ब्रह्मकी क्रियाशक्ति एवं ज्ञानशक्तिकी जिज्ञासा प्रकट की गई है.

(२) वेदस्तुतिमें शुकदेवजी परीक्षितके प्रश्नका उत्तर देते हुए वेदस्तुतिका निरूपण कर रहे हैं. (भाग.पुरा.१०।८७।२-८)

ब्रह्मसूत्रमें "**जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्**" सूत्रद्वारा ब्रह्मकी शक्तियोंके सम्बन्धमें प्रकटी हुई जिज्ञासाका उत्तर दिया गया है. (ब्र.सू.१।१।२)

दोनों ही शास्त्रोंमें नाम-रूपसे ब्रह्मके व्याकरणका निरूपण किया जा रहा है.

(३) वेदस्तुतिके प्रारंभमें प्रथम श्लोक है: "**जय जय जहि अजाम्**" (भाग.पुरा.१०।८७।१४)

ब्रह्मसूत्रका ईक्षत्यधिकरण.

दोनों ही शास्त्र अनिर्देश्यके निर्देश्य हो जाने पर श्रुतियोंद्वारा की गई स्तुति प्रस्तुत कर रहे हैं.

द्वितीय प्रकरण

भागवतमें वेदस्तुतिको "**ब्रह्मवादः सुसंवृत्तः**" (भाग.पुरा.१०।८४।-१०) कहा गया है. जब अपन् वाद कह रहे हैं, तो वादके अंगरूप : १.विषय २.संशय ३.पूर्वपक्ष ४.उत्तरपक्ष ५.संगति का विचार करना आवश्यक है.

वेदस्तुतिके प्रारम्भके पूर्व परीक्षितद्वारा ब्रह्मकी अनिर्देश्यता विषयक एक संशय प्रकट किया है :

राजोवाच :

ब्रह्मन् ब्रह्मणि अनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः
कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात् सदसतः परे"

(भाग.पुरा.१०।८४।१)

ब्रह्मकी अनिर्देश्यताके प्रति यहां दो हेतु गिनाए गए हैं : ब्रह्मकी **१.सदसद्से परता** तथा २.**निर्गुणता.**

१.सत् तथा असत् के तीन अर्थ किये जा सकते हैं :

क.सत् = अच्छा, असत् = बुरा

ख.सत् = होना, असत् = नहीं होना

ग.सत् = प्रकट, असत् = अप्रकट

क.सृष्टिकी उत्पत्तिसे पूर्व 'अच्छे' तथा 'बुरे' का अर्थ प्रसक्त नहीं है.

ख.'होने' तथा 'न होने' के अर्थका विचार भी सम्भव नहीं है क्योंकि 'सत्' तथा 'असत्' से पर 'मिथ्या' ऐसा श्रीशंकराचार्यद्वारा प्रयुक्त अर्थ, तथा 'संवृत्तिसत्य' ऐसा भगवान् बुद्धद्वारा प्रयुक्त अर्थमें वेदका तात्पर्य होना सम्भव नहीं है.

ग.अतः 'प्रकट' तथा 'अप्रकट' ऐसा 'सत्' तथा 'असत्' का अर्थ लेना चहिए. जगत्में जो प्रकट है तथा जगत्में जो प्रकट

नहीं है, इन दोनों ही प्रकारकी सत्तासे पर ब्रह्मका प्राकट्य तथा अप्राकट्य है. क्योंकि सृष्टिमें जो कुछ भी है, वो ब्रह्मका कार्य है तथा ब्रह्म स्वयम् उन पदार्थोंके प्रति कारण है. कार्यके ज्ञानद्वारा ही कारणका निर्देश होता है. अतः 'सत्' तथा 'असत्' के 'प्रकट' तथा 'अप्रकट' होनेका फॉर्मेट् कार्यपदार्थोंमें भी है ही. कार्यपदार्थोंका प्रकटरूप देश-काल-स्वरूपसे परिच्छिन्न है, तथा अप्रकट रूपका फॉर्मेट् तो कहा ही नहीं जा सकता है. जैसे देह प्रकट होते हुए भी बायोलॉजिकल् सेल्सकी चाक्षुष प्रत्यक्षमूलक बौद्धिक ॲनालिसिस् करना सम्भव नहीं है, माइक्रोस्कोपिक् प्रत्यक्षकी कथा और है. अतः इन प्रकट तथा अप्रकट पदार्थोंकी सत्तासे परे कारणरूप ब्रह्म होनेसे ब्रह्म सदसत्से पर है.

२.निर्गुणता :

कौनसे गुणोंके अभाववाली यह 'निर्गुणता' है ? सर्वथा गुणरहितता है या किसी स्पेसिफिक् गुणके न होनेके कारण ब्रह्मको निर्गुण कहा जा रहा है ? यह गुणोंके स्वरूपको जाननेके बाद ही निरूपित किया जा सकता होनेसे इस विषयका निरूपण बादमें किया जाएगा. किन्तु ब्रह्मके निर्गुण होनेके कारण वह अनिर्देश्य * है.

अनिर्देश्यता : निर्देशके विविध प्रकार हो सकते हैं जैसे कि : १.विधायक निर्देश, २.निषेधक निर्देश, ३.डिस्क्रिप्टिव् निर्देश, ४.इम्परेटिव् निर्देश, ५.एक्सक्लेमेट्री निर्देश, ६.इन्टरोगेटिव् निर्देश आदिके स्वरूपका विचार करनेके उपरान्त ही 'अनिर्देश्य'पदका तात्पर्य स्पष्ट किया जा सकता है.

अतः यहां वादके अंगस्वरूपोंका प्रतिपादन इस प्रकार हुआ है :

१.विषय = ब्रह्म

२.संशय = अनिर्देश्य ब्रह्मका निर्देश श्रुति कैसे कर रही है ?

३.पूर्वपक्ष = ब्रह्मका निर्देश सम्भव नहीं है, उक्त अनुपपत्तिके कारण.
४.सिद्धांत = अनिर्देश्य कहकर श्रुति ब्रह्मका ही निर्देश कर रही है, अत: ब्रह्मका निर्देश किया जा सकता है.
५.संगति = कृष्ण ही ब्रह्म है. (एकार्थताका ज्ञान ही संगति है).

महाप्रभुद्वारा निरूपित सिद्धान्त तथा संगति के स्वरूपका निर्धारण :

वेदस्तुतिका समावेश दशमस्कन्धके निर्गुणप्रकरण अन्तर्गत किया गया है. महाप्रभु भागवतमें निरूपित विषयकी संगतिका प्रकार बताते हुए कहते हैं **''शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणे अध्याये वाक्ये पदे अक्षरे, एकार्थं सप्तधा जानन् अविरोधेन मुच्यते''**. (त.दी.नि.३।१।२) भागवतद्वारा प्रतिपादित शब्दोंकी, अक्षरोंकी, प्रकरणोंकी संगति कृष्णके ब्रह्म होनेमें है जिसे महाप्रभु **'' 'ब्रह्म'इति 'परमात्मा'इति 'भगवान्'इति शब्द्यते''** (त.दी.नि.१।६)द्वारा समझाते हैं. भागवतके इन अंगोंमें परस्पर विरोध सम्भव है, जैसे हिरण्यकश्यपु असुर है तथा प्रह्लाद भक्त है, किन्तु दोनों ही भगवान्की लीलाके अंग हैं.

महाप्रभुने इसी प्रकार भागवतके शास्त्रार्थको समझाते हुए आज्ञा दी है **''श्रीकृष्णं परमानन्दं दशलीलायुतं सदा सर्वभक्तसमुद्धारे विस्फुरन्तं परं नुम:''** (त.दी.नि.३।१।१). महाप्रभुका तात्पर्य यहां भी यही है कि सर्ग विसर्ग स्थान पोषण आदि कार्य भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेपर भी भगवान्की लीला होनेके अर्थमें एक है. इन सृष्टिमें होते कार्यों अथवा घटनाओं के कारणतया यदि कर्म माया परमाणु अथवा वासना को माना जाए तो महाप्रभु इन सभीका निषेध करके इन सभीके प्रति भगवान्की लीलाको ही कारण बता कर समुच्चय तथा एकार्थ प्रस्तुत करना चाहते हैं.

उपनिषद्में प्रतिपादित उत्पत्ति स्थिति प्रयाण तथा लय के ही फॉर्मेट्को भागवतमें सर्गादि लीलाओंके रूपमें प्रस्तुत किया गया है.

(७)

ब्रह्म	कृष्ण
↓	↓
उपनिषद्	भागवत
↓	↓
यतो वा इमानि भूतानि	सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण,
जायन्ते येन जातानि...	ऊति, मन्वन्तर आदि....

इस उपनिषद् तथा भागवत की संगतिको ही महाप्रभुने बताते हुए आज्ञा दी है : **''निगमकल्पतरोः गलितं फलं शुकमुखाद् अमृतद्रवसंयुतम्''** (भाग.पुरा.१।१।३). भागवत व्यतिरिक्त शिवपुराण गणपतिपुराण देवीभागवत आदि पुराणग्रन्थोंका अवलोकन करनेपर भी यही एकार्थ तथा समुच्चय समझमें आता है. एक दूसरेके निरूपण तथा प्रक्रिया में विरोध होनेपर भी ब्रह्मके स्वरूपमें तो सभीका समन्वय होता है जिसे महाप्रभु यहां 'एकार्थ' अथवा 'अविरोध' कह रहे हैं. और इसी प्रकारकी एकार्थता, विभिन्न नाम-रूपोंमें ब्रह्मको देखना ही मोक्षप्राप्तिका उपाय है. इस एकार्थरूप (अविरोधात्मक) ब्रह्मवादको कृष्णलीलानिरूपक भागवतशास्त्रके अन्तर्गत वेदस्तुतिमें इन्ट्रोड्युस् किया गया है.

संगतिके दो प्रकार भागवतमें बताए हैं :

१.आन्तर संगति : शास्त्र स्कन्ध अध्याय प्रकरण आदिकी एकार्थतारूप संगति.

२.अन्तर संगति : कृष्ण ही ब्रह्म है.

कारणरूप एकमेवाद्वितीयब्रह्म तथा कार्यरूप सृष्टिमें प्रतीत होते ब्रह्मवादके स्वरूपका विमर्श.

ब्रह्मके स्वरूप विषयक वाद तो नामरूपकर्मात्मक सृष्टिके

उत्पन्न होनेके बाद ही सम्भव है. किन्तु इस कार्यरूप जगत्में यदि ब्रह्मवादकी चर्चा प्रसक्त हो रही है तो कारणरूप ब्रह्मके स्वरूपमें भी इस प्रकारके वादका अनिर्दिष्ट स्वरूप होना चाहिए क्योंकि "**कारणगुणाः हि कार्ये संक्रामन्ति**". यदि ये वादके गुण कारणमें नहीं होते तो उन गुणोंको इम्पोर्टेड्, पर्वर्टेड्, डीजनरेटेड् अथवा अलेज्ड् मानना पड़ेगा जो कि तादात्म्यवादमें स्वीकृत नहीं हो सकता है. यही वेदस्तुतिका फॉर्मेट् है, जो परीक्षितके प्रश्नमें प्रकट हुआ है. और यही प्रश्न महाराजा परीक्षितसे पूर्व वेदमें भी खड़ा किया गया है:

> "**न असद् आसीद् नो सद् आसीत् तदानीं!, न आसीद् रजो नो व्योमा परः यत्, किम् आवरीवः कुह कस्य शर्मन्? अम्भः किम् आसीद् गहनं गभीरं, न मृत्युः आसीद् अमृतं न तर्हि, न रात्र्याः अह्नः आसीत् प्रकेतः, आनीद् अवातं स्वधया तद् एकं, तस्माद् ह अन्यद् न परः किञ्चन आस, तमः आसीत् तमसा गूढम् अग्रे, अप्रकेतं सलिलं सर्वम् आ इदम्, तुच्छ्येन आभुः अपिहितं यद् आसीत्, तपसः तद् महिमा अजायत एकं, कामः तद् अग्रे समवर्तत अधि, मनसो रेतः प्रथमं यद् आसीत्, सतः बन्धुम् असति निरविन्दन्, हृदि प्रतीष्या कवयः मनीषा**"
>
> (ऋक्.संहि.१०।१२९।१-४)

न असत् था, न सत् था, न रज था, न लोक था और न अंतरिक्ष था, न कोई आवरण था और न ढकने योग्य पदार्थ था. कहीं भी न कोई प्राणी था और न कोई सुख पहुंचानेवाले भोग थे. उस समय गहन गंभीर जल भी नहीं था.

न मृत्यु थी न अमृत था न रात्री थी और न दिनका ज्ञान था. एकमात्र ब्रह्म ही स्वधाके साथ प्राणयुक्त था. उससे बढ़ कर अन्य कुछ भी कहीं भी नहीं था.

सब कुछ अंधकारसे घिरा हुआ था एवं सब ओर अंधकार था. यह सारा दृश्यमान जगत् जलके रूपमें अज्ञात था. सारा विश्व तुच्छ अंधकारसे ढका था. तब महान तपसे कार्यकारणरूप विभागसे रहित ब्रह्म ही कार्यकारणात्मना उत्पन्न हुआ.

ब्रह्मके मनमें सबसे पहले सृष्टिरचनाकी इच्छा उत्पन्न हुई और वही इच्छा इस सृष्टिका बीज बनी. विद्वानोंने बुद्धिसे हृदयमें विचार किया एवं असत्में सत्के कारण होनेका तथ्य खोजा.

उपरोक्त प्रतिपादित सूक्तोंमें इन्टरनली ब्रह्ममें चलते इन्ट्रोस्पेक्शन्का निरूपण किया गया है. ब्रह्ममें संशय-पूर्वपक्ष-सिद्धान्त बननेका जो पोटेंशियल् था वही कार्यरूपोंमें भी ब्रह्मवादके रूपमें प्रकट हुआ है. यहां ब्रह्मने स्वयं ही अपनेमेंसे अपने कॉन्ट्राडिक्शन्स् प्रकट किये हैं तथा इसी विषयक शंका परीक्षितद्वारा प्रकट किये जाने पर वेदस्तुतिमें ब्रह्मवादका यह फॉर्मेट् प्रतिपादित हुआ है.

महाप्रभुद्वारा स्वीकृत यह ब्रह्मवाद अद्वैतमतकी तरह सुषुप्त-अवस्थायुक्त नहीं है, परन्तु डायनेमिक्-नॉन्-ड्युअलिस्टिक् है. महाप्रभुके तादात्म्यवादमें ब्रह्मकी युनिटी और सिन्युलरिटी नॉन्-डायनेमिक् नहीं हैं.

ब्रह्मवादीय परिप्रेक्ष्यमें तादात्म्यवादके एकार्थरूप सिद्धान्तका सार.

स्वरूप = (कार्य + कारण)

आभु = आभवति (आसमन्तात् सर्वं भवति इति आभुः) ब्रह्मवादेन

ब्रह्म = जड़-जीव-ईश्वर सुसंवर्त्य

एक = अनेकता

ऋग्वेदकी उपरोक्त ऋचाओंमें प्रतिपादित विषयका पूर्वमें अवलोकन

कर लेनेके बाद प्रस्तुत विषयमें वादका विषयवाक्य इन वचनोंके आधारपर कुछ इस प्रकार निष्पन्न किया जा सकता है

एकं = सलिलं = आभुः = तुच्छ्येन अपिहितं अप्रकेत तमोरूपयोगनिद्रया शयानमिव

इदं सर्वम् = नामरूपकर्मात्मकम् अजायत

इदं सर्वम् = ब्रह्म

अनिर्देश्यम् = इदमा निर्देश्यम् अजायत

अप्रकेतं ऐसा ब्रह्म **तुच्छमिव** अर्थात् जिसके विषयमें कुछ भी कहना सम्भव ही न हो वह जैसे नथिंगनेस्से आवृत्त हुआ था, वही ब्रह्म **इदं सर्वं** हो गया. **कथं चरन्ति श्रुतयः** इस प्रश्नका उत्तर यहां **इदं सर्वम्**से दिया गया है कि सभी कुछ ब्रह्म है अर्थात् अनिर्देश्य ब्रह्म ही **इदंकार** द्वारा निर्दिश्यमान हो गया है. उपरोक्त ऋग्वेदका वाक्य ही परीक्षितके प्रश्नका बॅकग्राउन्ड् है.

ब्रह्मके निर्देश्य तथा अनिर्देश्य होनेकी अवस्थाओंका विवेचन.

(८)

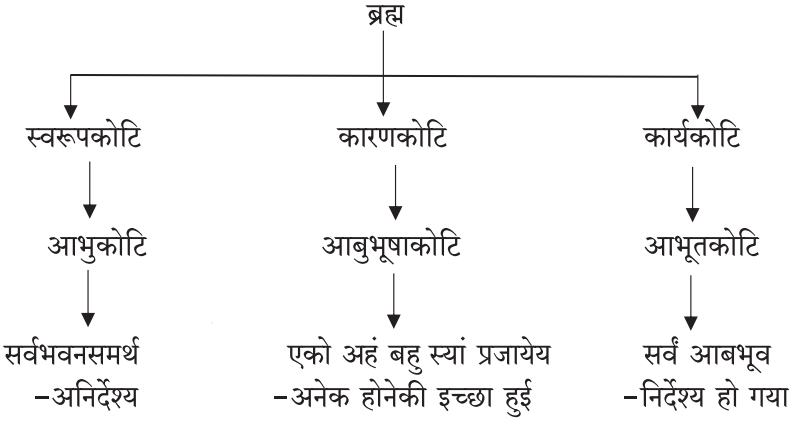

आबुभूषा : ब्रह्मकी डायनेमिक् सिन्युलरिटी ही डायवर्सिटीमें कन्वर्ट हो जाती है. उस समय एकता प्रकट न हो कर अनेकता (नामरूपकर्मात्मना प्रकट ब्रह्म) प्रतीत होने लगती है. इसीलिए संशय उत्पन्न होता है कि गुणवृत्तिवाले शब्द अनिर्देश्यमें चरण कैसे करेंगे. ब्रह्मके स्वरूपमें प्राप्त इन तीनों कोटियोंमें निर्देश्यता तथा अनिर्देश्यता का प्रश्न इसलिए उपस्थित होता है क्योंकि मनुष्यकी बुद्धि विषयका ग्रहण दो ही प्रकारके अनुभवोंकी मर्यादामें करती है : इम्पेरिकल् एक्सपीरियन्स् अथवा तो लॉजिकल् एक्सपीरियन्स्. ब्रह्मकी इन तीन कोटियोंमें

१.आभु = 'सदसत्से पर' होनेसे, यह स्वरूप दोनों ही प्रकारकी मर्यादाओं(एक्सपीरियन्सिस्)के बाहर होनेसे बुद्धिगम्य नहीं हो सकता. (स्वरूपकोटि)

२.आबुभूषा = पदार्थोंकी उत्पत्तिके पूर्वकी यह अवस्था अप्रकट होते हुए भी उत्पन्न पदार्थोंके विद्यमान होनेसे अनुमेय तो है ही. अत: लॉजिकल् अनुभव इस स्वरूपका सम्भव है. (कारणकोटि)

३.आभूत = प्रकट पदार्थ होनेसे इस स्वरूपका अनुभव तो इम्पेरिकल् है. (कार्यकोटि)

इन तीनों स्वरूपोंमेंसे स्वरूपकोटिके विषयमें ही वाद प्रकट होता है, क्योंकि वह सदसत्से परे है.

वेदद्वारा ब्रह्मकी निर्देश्यता तथा अनिर्देश्यता की समस्याका डेमॉन्स्ट्रेशन्.

अनिर्देश्य ब्रह्म निर्देश्य कैसे बन सकता है ?
सदसत्से पर ऐसा ब्रह्म सदसत् कैसे बना ?
निर्गुण ब्रह्म सगुण कैसे बना ?

परीक्षितद्वारा उपस्थित इस संशयका बॅकग्राउन्ड् देखें तो ब्रह्मसूत्रमें भी इसी समस्याको उपस्थित करके निरूपण किया गया है. ब्रह्मसूत्रमें

कहा है कि: १.''**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**'', २.''**जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्**'' (ब्र.सू.१।१।१,२) इन सूत्रोंमें इसी संशयको निरूपणशैलीमें नहीं परन्तु वादशैलीमें उपस्थित करके उत्तर दिया गया है. इसी प्रकार वेदभी वाणीद्वारा ब्रह्मकी निर्देश्यता-अनिर्देश्यताको इस प्रकार समझाता है.

वाणीके प्रकार तथा वाणीद्वारा ब्रह्मके स्वरूपके निरूपणकी विविध शैलियोंकी समीक्षा.

(९) ब्रह्म (ण:) $\longleftrightarrow$ वाद: = ब्रह्मवाद

विधेय	परा
अभिधेय	पश्यन्ती
विकल्प्य	मध्यमा
अपोह्य	वैखरी

वाणीकी चार अवस्थाएं हैं:

१.परावाणी = बौद्धिक कन्सेप्ट्

२.पश्यन्ती = बौद्धिक कन्सेप्ट्पर रिफ्लॅक्ट् करना

३.मध्यमा = कन्सेप्ट्को प्रकट करनेका प्रयास

४.वैखरी = वाणीद्वारा बौद्धिक कन्सेप्ट्के विषयको प्रकट कर देना.

जैसे इन वाणिओंकी विविध अवस्थाएं मनुष्यद्वारा उपयोगमें लाई जाती हैं उसी प्रकार 'आभु'में भी इन वाणिओंके स्वरूपको समझा जा सकता है. ब्रह्ममें रही हुई परावाणी बोधात्मिका (कन्सॅप्च्युअल्) है. ब्रह्मकी परावाणीमें ही सभी नाम-रूप-कर्मोंके कन्सेप्ट्स् हैं. अन्य सभी पदार्थ ब्रह्मके अंश होनेके कारण उनकी परावाणी भी आंशिकी है तथा ब्रह्मकी परावाणी टोटालिटीकी है. मनुष्यद्वारा विचारित परावाणीमें रहे हुए कन्सेप्ट्स् मात्र विचारवान मनुष्यके

लिए ही स्वप्रकाश होते हैं, अन्योंके लिए तो वे शब्दद्वारा ही प्रकाशित होते हैं. किन्तु ब्रह्मकी परावाणी स्वप्रकाश होनेके कारण उसमें सभी नाम-रूप-कर्मोंके कन्सेप्ट्स् विद्यमान ही होनेसे ब्रह्मके ज्ञानकी सीमासे बाहर कुछ भी नहीं हो सकता है. बिना कन्सेप्ट्का कोई भी ज्ञान और अनुभव नहीं होता है तथा प्रत्येक उत्पन्न पदार्थके भीतर भी कोई न कोई डिज़ाइन् होती होनेसे, उन सभी कन्सेप्ट्स्का स्रोत भी आभुकी परावाणी ही है जिनकी अभिव्यक्ति आबुभूषा तथा आभूत के लेवल्स्में होती है.

आभुकी इसी परावाणीमें वाद चल रहा है तथा वही वाद आबुभूषामें चल रही है. आभुके सन्दर्भमें वाणीके स्वरूप उपनिषद्में इस प्रकार वर्णित हैं:

१.आभुकी परा वाक् =सेल्फ ऍनालिसिस् = स्वप्रकाशता

२.आभुकी पश्यन्ती वाक् = सेल्फ्-वेरिफिकेशन्का पीरियड् है जिसमें वह स्वयं अपना परिशीलन करता है कि उसमें नाम-रूप-कर्म बननेका सामर्थ्य है.

३.आभुकी मध्यमा वाक् = **''एको अहं बहु स्यां प्रजायेय''** (छान्दो.उप.६।२।३). यह मध्यमा वाक्की अवस्था है जब वह अपने सर्वभवनसामर्थ्यको कार्यान्वित करनेकी इच्छा प्रकट करता है.

४.आभुकी वैखरी वाक् = **''यथा अग्नेः विस्फुल्लिंगा व्युच्चरन्ति एवमेव अस्माद् आत्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति''** (बृह.उप.२।१।२०). यह वैखरी वाक् है जब सभी नाम-रूप-कर्म ब्रह्ममेंसे उत्पन्न हो जाते हैं और आभु, आबुभूषा करके आभूत बन जाता है.

नाम-रूप-कर्मोंके मल्टिप्लिकेशन्का जो प्राकट्य तथा इन्टरेक्शन् है, वह आभुमें स्थित कन्सेप्ट्स्के बिना कन्सेप्च्युलाइज़ होना सम्भव

नहीं है. अत: एक रूपके लिए दूसरा रूप भले ही परप्रकाशित हो, एक नामके लिए दूसरा नाम भले ही अन्यद्वारा प्रकाशित हो, किन्तु ब्रह्मकी परा वाक्के ये सभी नाम-रूप-कर्म विषय होनेसे ब्रह्मके लिए ये सभी स्वप्रकाश हैं. इसीलिए आभुकी आबुभूषाको 'स्वयंभू' कहा जाता है. अत: इसी ब्रह्मकी आबुभूषा (**''यतो वा इमानि''**) ही 'ब्रह्मा' कहलाती है जिन्हें स्वयंभू भी कहा जाता है तथा उन्हींकी शक्तिरूपा सरस्वती (वाणी)को भी स्वयंभुवा कहा जाता है.

वाणीद्वारा होते निर्देशके प्रकारोंकी विवेचना.

वाणी विषयका विवेचन चार प्रकारसे करती है. १.विधेय २.अभिधेय ३.विकल्प्य ४.अपोह्य

(१०)

वाणीके प्रकार तथा विवेचन शैलीकी समीक्षा

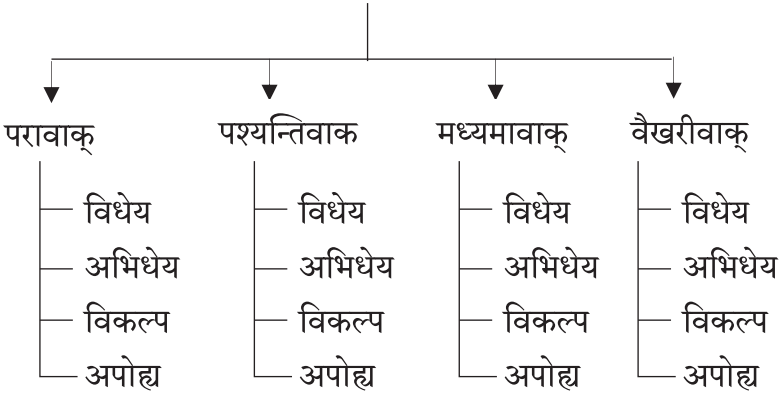

भगवान्ने वाणीद्वारा निर्दिष्ट इन सभी प्रकारके विषयोंका विवेचन स्वयंको बताते हुए आज्ञा दी है कि **''मां विधत्ते अभिधत्ते मां विकल्प्य अपोह्यते तु अहम्, एतावान् सर्ववेदार्थ: शब्दे आस्थाय मां**

भिदां, मायामात्रम् अनूद्य अन्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति'' (भाग.पुरा.११।२१।-४३) अर्थात् वेदमें क्रियाद्वारा सिद्ध करनेके लिए मेरा ही विधान किया गया है, जहां विधान न हो कर अभिधान है. वह डिस्क्रिप्शन् भी मेरा ही है. जहां विकल्प बताए गए है वह भी मैं ही हुं तथा उन विकल्पोंमेंसे किसीका अपोहन भी यदि किया गया हो तो वह भी मैं ही हुं. वाणीके डोमेन्में ब्रह्मका ही इन चारों प्रकारोंसे निरूपण किया गया है. अतः वाणी तथा विवेच्य विषयके भेदोंके विश्लेषणमें विविध प्रकार इस प्रकार प्राप्त होते है.

इसी परावाणीका एक्सीक्युशन् करते हुए ब्रह्मने प्रथम संकल्प यह किया कि **''अहं'नामाभवत्''** (बृह.उप.१।४।१) ब्रह्मने सर्वप्रथम अपना नाम 'अहं' सोचा, अर्थात् अपनी सेल्फ्-अवेरनेस् प्रकट की. 'अहंके' बाद 'इदं' प्रकट हुआ जहांसे पश्यन्ती मध्यमा तथा वैखरी का एक्सीक्युशन हुआ. ब्रह्मके इसी 'अहं'में सभी कन्सेप्ट्स् प्रकट हुए. वाणीकी इन चार अवस्थाओंमें ब्रह्मज्ञानकी अवस्थाओंका निरूपण शास्त्र इस प्रकार करता है : **''चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुः ब्राह्मणा ये मनीषिणः गुहा त्रीणि नेंगयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्याः वदन्ति''** (ऋक्.संहि.१।१६४।४५) अर्थात् वाणीकी चारों अवस्थाओंको मनीषि (मनसः ईषा मनीषा) ब्राह्मण(ब्रह्मज्ञो ब्राह्मणः स्मृतः) ही जानता है. परा-पश्यन्ती-मध्यमा, ये तीनों वाणी तो स्वतः प्रकाशित हैं अन्य कोई इन्हें जान नहीं सकता है. गुफामें छुपी हुई इन तीनों वाणिओंको तो स्वयंके लिए ही प्रकाशित किया है. वैखरीद्वारा एक्सप्रेस् करनेपर ही वाणीद्वारा विवेचित विधेय-अभिधेय-विकल्प-अपोह्य प्रकट हो कर आते हैं.

वाणीके इन प्रकारोंके ही कॉरस्पॉन्डिंग्, पुरुषसूक्त भी ब्रह्मके

स्वरूपका निरूपण इस प्रकार करता है "**पुरुषएव इदं सर्वं यद् भूतं यत् च भव्यम्, एतावान् अस्य महिमा अतः ज्यायांश्च पूरुषः पादो अस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्य अमृतं दिवि**" (ऋक्.संहि.१०।९०।२-३) अर्थात् चतुष्पाद ब्रह्मका एक पाद ही नाम-रूप-कर्मद्वारा प्रकट(वैखरी वाक्-आभूत) है तथा अन्य तीन पाद तो परा-पश्यन्ती-मध्यमा(आभु-आबुभूषा-आभवन) अप्रकट हैं. इसी आभुके बारेमें ब्रह्मवाद जनरेट् हो रहा है जिसे उपनिषद् इस प्रकार समझाता है "**तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो 'ब्रह्म'इति, सः तपो अतप्यत सः तपः तप्त्वा (इदं सर्वम् असृजत)** (तैत्ति.उप.३।१) अर्थात् आबुभूषा रूपी तपने(तप= आलोचने) वादात्मिका आलोचना की. उस ब्रह्मने तप-आलोचनद्वारा सभीका सृजन किया. तपद्वारा ब्रह्मकी जिज्ञासा करो. वाणीद्वारा विवेच्य विषयके आधारपर यह आलोचना भी चार प्रकारकी है :

१.अपोहनात्मिका आलोचना = "**नेति नेति..**"

२.विधानात्मिका आलोचना = "**तपसा ब्रह्मविजिज्ञासस्व**"

३.अभिधानात्मिका आलोचना = "**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते.....**"

४.विकल्पात्मिका आलोचना = "**कालः स्वभावो नियतिः यदृच्छा.....**"

इनमेंसे उत्पन्न विकल्पोंका अपोहन किया जाए तब भी ब्रह्मका ही अपोहन होगा. वेदकी इसी निरूपण शैलीके भेदोंको बताते हुए भगवान् अपने स्वरूपको भागवतके इस वचनमें समझा रहे हैं "**मां विधत्ते अभिधत्ते मां विकल्प्य अपोह्यते तु अहम् एतावान् सर्ववेदार्थः शब्दे आस्थाय मां भिदां मायामात्रम् अनूद्य अन्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति**" (भाग.पुरा.११।२१।४३) अर्थात् शब्दद्वारा निरूपित शैलीके कारण भेद प्रकट होता है, भेद स्वरूपमें नहीं है. "**एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति**" (ऋक्.संहि.१।१६४।४६). जैसे कि चार प्रकारकी वाणीमें १.आभु, परा वाक्द्वारा निरूपित है, २.आबुभूषा, पश्यन्ती तथा मध्यमा वाक् द्वारा निरूपित है तथा ३.आभूत, वैखरी वाक्द्वारा

निरूपित है. ब्रह्म ही अवस्थात्रयद्वारा निरूपित हो रहा है.

अत: विधान अभिधान विकल्पन तथा अपोहन के भेदसे श्रुति जब एक ही ब्रह्मका प्रतिपादन करना चाहती है, तब शब्द भेद प्रकट करके नॅरेट् करती है, किन्तु भेद प्रतिपादनके समय अभेद विस्मृत नहीं किया जाता है. क्योंकि परावाक्की अवस्थामें तो ब्रह्म नेरेटेबल् है ही नहीं. लक्षणका प्रतिपादन तो तब सम्भव है जब इतरव्यावर्तन किया जा सकता हो. **(इतरव्यावर्तकं असाधारणधर्मनिरूपकं वाक्यं 'लक्षणम्')**. इसलिए मध्यमा-पश्यन्ती आदिकी अवस्थापर जा कर श्रुति ब्रह्मकी अन्य अवस्थाओंका वर्णन करती है, क्योंकि परावाणी तथा ब्रह्म तो एक ही होनेसे उस वाणीद्वारा ब्रह्म वर्णनातीत स्वप्रकाशन है.

(११)

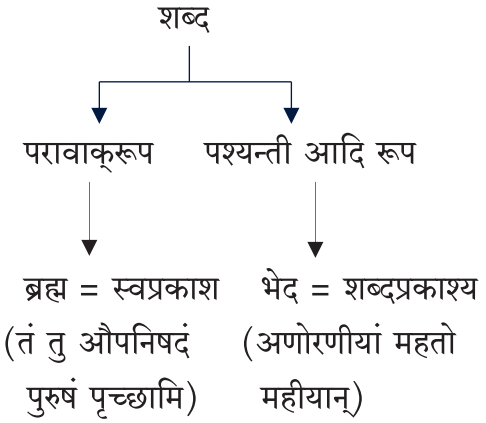

शब्दद्वारा प्रतिपादित इसी शैलीको ध्यानमें रख कर महाप्रभु भेदसहिष्णु अभेदरूप तादात्म्यवादका प्रतिपादन करते हैं. क्योंकि श्रुतिद्वारा निरूपित आबुभूषा तथा आभूत स्वरूपोंका भेदात्मक विवेचन भी स्वरूपकोटिरूप आभुके एकमेवाद्वितीय स्वरूपको विस्मृत करके

नहीं किया जा सकता है.

वेदकी ऋचामें प्रतिपादित वाणी तथा ब्रह्म के तादात्म्यका स्वरूप.

''सहस्रधा पञ्चशान्युक्था यावद् द्यावापृथिवी तावद् इत् तत् सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्'' (ऋक्.संहि.१०।११४।८)

सायणाचार्यकृत व्याख्या : **''सहस्र-संख्याकेषु ब्रह्मादि-स्तम्बपर्यन्तेषु देहेषु पंचशानि ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-महाभूतानि उक्थानि यावद् द्यावापृथिवी तावद् इत् सहस्रधा महिमानः सहस्रं ब्रह्म विष्ठितं. अतः यावद् ब्रह्म भवति तावती वाक् भवति''** अर्थात् ब्रह्मासे तृण पर्यन्त जितने भी ब्राह्मिक देह हैं, उनमें स्थित ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय महाभूत तथा पृथ्वीके अवकाश पर्यन्त जितने भी देह हैं, उन सभी सहस्र रूपोंमें ब्रह्म स्थित है. तथा जितना ब्रह्म है, उतनी बृहती (वाणी) है, तथा जितनी बृहती है, उतना ही ब्रह्म है.

अतः उस ब्रह्मकी सेल्फ्-अवेरनेस्रूपा परावाणी ही आबुभूषा रूपी भेद प्रकट करती है. आबुभूषाद्वारा ब्रह्म सेल्फ्-डिविज़न् करता है, तथा तभी वाणी उस आबुभूषा रूपी आभुका निर्देश करती है.

भगवान् बुद्ध तथा श्रीशंकराचार्य ने श्रुतिद्वारा प्रतिपादित विविध अवस्थापन्न वाणी तथा विवेचनशैलियों द्वारा ब्रह्मकी निर्देश्यता तथा अनिर्देश्यता के ग्राउन्ड्पर ही ब्रह्ममें सगुणता निर्गुणता मिथ्यात्व क्षणिकता आदिकी कल्पना प्रस्तुत की है. परन्तु ऐसी वाच्यता तथा अनिर्वचनीयता का भेद हमारी परिच्छिन्न वाणीमें सम्भव है. ब्रह्मकी कन्सेप्च्युअल् परा वाणीमें तथा इसकेद्वारा ही स्वयंप्रकाशित श्रुतिमें ये भेद करना सम्भव नहीं है. इसी बातको वेदान्तदेशिक कुछ इस प्रकार प्रस्तुत करते है **''अवाच्यं वाच्यम् इति वा वस्तुनि प्रतिपद्यते, वाच्यमेव भवेद् वस्तु, वाच्यावाच्यवचोऽन्वयात्''**. (न्या.सि.३।-४६) भगवान् बुद्ध तथा श्रीशंकराचार्य के मतानुसार सभी वाच्य

पदार्थ मिथ्या हैं तथा अवाच्य पदार्थ सत्य हैं. किन्तु इसे स्वीकारनेपर उनकेद्वारा बोले जाते शब्द भी यदि वाच्यार्थप्रतिपादक हों तो वे भी मिथ्या ही हो जाते हैं!

अत: श्रुतिप्रतिपादित निर्देश्यता-अनिर्देश्यता तथा वाच्यता-अनिर्वचनीयता का समन्वय महाप्रभुने भेदसहिष्णु-अभेदरूप तादात्म्यवाद बता कर किया है. जैसे प्रकाश-तरंग चतुर्दिक व्यापी होनेपर भी प्रकाश कणोंके संचारणको दिशाविशेषपर अग्रसर हो पाती है. परीक्षितद्वारा प्रस्तुत संशयका भी यही निराकरण है कि ब्रह्म स्वरूपत: अवाच्य होते हुए भी लीलया वाच्य बन सकता है. यही वाच्यता भी वहां ब्रह्मकी परावाणीमें ही स्वप्रकाशित होती है. अत: वेदको भी महाप्रभुने ब्रह्मका ही स्वप्रकाशनरूप माना है. वैखरीरूप वेदमें भेदका प्रतिपादन देख कर हम संशय प्रकट करते हैं, किन्तु वस्तुत: वह ब्रह्मरूपा ही वाणी है. क्योंकि प्रज्ञापेता वाणी मिथ्या होती है तथा प्रज्ञासहिता वाणी सत्य होती है. **''नहि प्रज्ञापेता वाङ्नाम''** (कौ.ब्रा.उप.३।७)

ब्रह्म तथा वाणी के पारस्परिक अनैक्यसहिष्णु ऐक्यके स्वरूपको समझनेके बाद परीक्षितराजाके प्रश्नकी समीक्षाके रूपमें यदि अन्य विचारकोंके शब्द विषयक मतोंका विचार किया जाए तो वाणीका स्वीकृत - अस्वीकृत स्वरूप तथा इस स्वीकृति तथा अस्वीकृति का सृष्टिकी उत्पत्ति तथा ब्रह्मके स्वरूप विषयक निर्णयपर क्या प्रभाव पड़ा है उसे समझा जा सकता है. शब्दज्ञानकी प्राप्तिका साधन होनेसे लौकिक - शब्दरूप सामान्य वाक्य तथा अलौकिक - शब्दरूप वेदादि शास्त्रोंके वचनोंका प्रयोग ही इन्द्रियातीत प्रक्रियाओंको समझेनेके लिए किया जाता है.

परीक्षित उन्हीं श्रुतियोंद्वारा निरूपित विषयपर प्रश्न उठा रहे

हैं कि ''सगुण श्रुतिवाक्योंने निर्गुण - निर्धर्मक - ब्रह्मके स्वरूपका निर्देश किस प्रकार किया?'' अत: शब्द विषयक विविध दार्शनिक धारणाओंकी समीक्षा यहां परीक्षितजीके इस प्रश्नको समझनेके लिए की जा रही है.

शब्द तथा प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञानोत्पत्तिकी प्रक्रियामें प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का विमर्श.

''नहि प्रज्ञापेता वाङ्नाम किञ्चन प्रज्ञापयेत'' (कौ.ब्रा.उप.३।७) अर्थात् प्रज्ञाके बिना कोई भी वाणी किसी भी नामका प्रज्ञापन नहीं करती है. अत: जब वाणीद्वारा कोई मनुष्य कुछ बोलता है तब उसकी वाणी तथा श्रवण करनेवाले मनुष्यकी प्रज्ञाके बीच होनेवाले इन्टॅरॅक्शन्से ही शब्दद्वारा अर्थबोध होता है. इन्टॅरॅक्शन् यदि न हो तो श्रवण किया जानेपर भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है. प्रत्येक मनुष्यका इन्टेरेक्टिव् - मोड् भिन्न - भिन्न प्रकारका होनेके कारण ही श्रवणीय शब्दके अर्थबोधमें भी भेद होता है और फलत: विभिन्न दार्शनिक मतोंमें भेद उत्पन्न हो जाता है.

जैसे प्रजापतिद्वारा उच्चरित 'द'अक्षरका श्रवण करके मनुष्य देव तथा दानव ने 'दान' 'दम' तथा 'दया' अर्थ करना, शब्द तथा श्रवण का इन्टॅरॅक्शन् है, उसी प्रकार नेत्रद्वारा देखे जाते विषय तथा ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा गृहीत विषयके प्रत्यक्ष होनेमें भी यही प्रक्रिया होनेसे इन्टॅरॅक्शन्के आधारपर प्रत्यक्षज्ञानके दो भेद बताए गए हैं.

१. **सविकल्पक ज्ञान :** पदार्थके स्वरूपके ज्ञान सहित प्रत्यक्षज्ञान अथवा जो पदार्थ जैसा है उसका वैसा ज्ञान.

२. **निर्विकल्पक ज्ञान :** स्वरूपज्ञानरहित मात्र इन्द्रियद्वारा दिखाई पड़ना अथवा केवल पदार्थका प्रकारता रहित ज्ञान.

ज्ञानकी प्रक्रियामें सर्वप्रथम निर्विकल्पक ज्ञान होता है तथा कुछ समय बाद उस पदार्थके स्वरूपको समझ लेनेके बाद सविकल्पक ज्ञान होता है. इन्द्रियार्थसंनिकर्ष अर्थात् परस्पर क्रियाकारितासे पूर्व न तो विषय अपने सारे प्रकारोंको प्रकट करता है, न ऐन्द्रियक बोध ही विशेष्यता-प्रकारतासे संपन्न हो पाता है. इस प्रक्रियाके बीच ही ज्ञानके स्वरूपमें प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का निर्धारण करनेमें दार्शनिकोंके बीच मतभेद हो जाता है.

जैसे भगवान् बुद्धने कहा कि ''**सन्मात्रग्राहि-प्रत्यक्षप्रामाण्यवाद**'' अर्थात् प्रत्यक्ष उतने ही अर्थमें प्रमाण है जब तक पुरोवस्थित वस्तुका निर्विकल्पक ज्ञान होता है. जब उस निर्विकल्पक ज्ञानमें हमारी बौद्धिक वासनाएं जुड़ती हैं तब सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है. इस तरह सत्के विकल्पोंको ग्रहण करनेके कारण यह प्रत्यक्षज्ञान अप्रमाण बन जाता है. इसी मतका स्वीकार श्रीशंकराचार्यने भी किया है. प्रत्यक्षज्ञान विषयक ऐसे विविध मतोंके कारण ही शब्दको अप्रमाण मान लिया जाता है, सविकल्पक बोध करवानेवाला होनेसे.

सामान्य व्यवहारमें ज्ञानप्राप्तिके तीन मुख्य साधन हैं. १.शब्द २.प्रत्यक्ष और ३.तर्क इन तीन साधनोंमेंसे तर्कवादियोंने शब्दको अप्रमाण मान लिया. जिन विचारकोंने शब्दको प्रमाण माना उन्होंने प्रत्यक्ष तथा तर्क की प्रमाणरूपताको गौण मान लिया. जैसे महाप्रभु आज्ञा करते हैं कि ''**वह्निना सञ्चति इत्यपि उष्णजलेन सिञ्चति इति अर्थो भवति...तस्मात् सर्वमेव वाक्यं प्रमाणम्. यतः सा सरस्वती सर्वतोमुखी**'' (त.दी.नि.२।१७३) अर्थात् तात्पर्य दृष्टिसे यदि वेदवाक्य हो तो प्रत्यक्ष तथा तर्कके बाध होनेके बावजूद भी ''अग्नि 'अनुष्ण' है'' यह वाक्य भी प्रमाण है. अग्निका ज्वलनांक

प्रत्यक्षानुभूति(में) उच्चतम होता है या तो सापेक्ष होनेके कारण उससे कई गुना अधिककी तुलनामें अनुष्ण क्यों नहीं हो सकता? ब्राह्मिक माइन्डसेट्को स्वीकार करते हुए महाप्रभुने शब्दके आधारपर प्रत्यक्ष तथा तर्क के प्रमाणको गौण माना है.

मनु आज्ञा करते हैं **"प्रत्यक्षं च अनुमानं च शास्त्रं च विविधागमं त्रयं सुविधितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना. यः तर्केण अनुसन्धत्ते सः धर्मं वेद न इतरः"** (मनुस्मृ.१२।१०५-१०६) अर्थात् श्रुति-स्मृति तथा तर्क (वेदानुकूल) द्वारा प्राप्त ज्ञानको ही धर्मरूप समझना चाहिए. अतः शब्द तथा प्रत्यक्ष तथा प्रत्यक्षजन्य-तर्कके प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य विषयक इन विविध वादोंका प्रभाव, उनके द्वारा किये जाते दार्शनिक निर्णयोंपर कैसे पड़ता है उसका अवलोकन यदि करें तो समझ आता है कि परीक्षितद्वारा पृष्ट श्रुतिके स्वरूप तथा ब्रह्मके निर्देशमें श्रुतिके सामर्थ्य विषयक प्रश्नकी पूर्वभूमिका क्या है.

विविध दार्शनिक कार्यकारणभाव(कॉज़ल् थीयरीज़) विषयक वाद तथा ज्ञानप्राप्तिकी प्रक्रियाका(एपिस्टेमोलॉजी) पारस्परिक सम्बन्ध तथा सृष्टि विषयक वादोंपर पड़ता उनका प्रभाव.

१.आरम्भवाद = नैयायिकोंका मत

बहुत सारे निर्विकल्पक ज्ञान मिलके सविकल्पक ज्ञान बन जाता है. किन्तु प्रत्येक पदार्थ एक नूतन आरम्भ होनेसे दोनों ज्ञान एक नहीं पर भिन्न-भिन्न हैं. जैसे परमाणु कारण नहीं हो सकता है क्योंकि वह नित्य है और कारणता अनित्य पदार्थकी ही होती है, परमाणु तो मात्र एक-दूसरेके समीप आनेके अर्थमें जुड़ जाते हैं. उनके जुड़ जानेसे द्वयणुक बन जाता है तथा वही पदार्थोंके प्रति कारण होता है. उसी प्रकार निर्विकल्पक

ज्ञान भी कारण नहीं होता किन्तु उनकी शृंखलासे सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है. जो कुछ भी उत्पन्न हो रहा है वह बिट्-बाय्-बिट् कन्स्ट्रक्ट् होके उत्पन्न हो रहा है.

२.(विकृत)परिणामवाद = निरीश्वर सांख्यवादियोंका मत

निर्विकल्पक प्रत्यक्षमें कुछ शब्दोंके जोड़नेसे वही ज्ञान सविकल्पकज्ञान बन जाता है. दूधमेंसे जैसे जामन डालनेपर दही बन जाता है वैसे सभी पदार्थ परिणाम है, नूतन आरम्भ नहीं.

३.विवर्तवाद = श्रीशंकराचार्यका मत

निर्विकल्पक ज्ञान तो रेगिस्तानकी तरह इम्फर्टाइल् नॉन्-प्रोडक्टिव् होता है. किन्तु प्यासे मनुष्यको जलकी प्रबल इच्छावशात् जैसे रेगिस्तानमें जलके विवर्तकी भ्रान्ति हो जाती है. उसी प्रकार सविकल्पक ज्ञान भी विवर्त होता है. पदार्थ न तो परिणाम है न ही नूतन आरम्भ है. प्रत्येक पदार्थ विवर्तमात्र है. श्रीशंकराचार्य तर्क प्रस्तुत करते हैं: **''आदौ अन्ते च यन् न अस्ति वर्तमानेऽपि तत् तथा''** (माण्डू.उप.गौड.का.२।६) अर्थात् घटका प्रत्यक्ष विवर्त है क्योंकि चेतनाकी प्रारम्भिक अवस्थामें भी उस प्रत्यक्षका अभाव था तथा चेतनाकी अन्तिम अवस्थामें भी उसका अभाव है. अत: मध्यावस्थामें यदि ऐसे पदार्थकी प्रतीति हो रही है तो उसे विवर्त मानना चाहिए. अत: सभी विकल्प विवर्त हैं.

४.प्रतीत्यसमुत्पादवाद = भगवान् बुद्धद्वारा प्रस्थापित मत

प्रत्येक ज्ञानको सविकल्पक बनानेकी वृत्तिके कारण मनुष्य निर्विकल्पक ज्ञानमें अपनी वासनाको जोड़ देता है, जिसके कारण ज्ञान प्रमाणरूप न रह जा कर सविकल्पक ज्ञान अप्रमाण बन जाता है. अत: कोई भी पदार्थ उत्पन्न स्थित या नष्ट होता ही नहीं है, उसके उत्पन्न होनेकी मात्र भ्रमणा होती होनेसे सब कुछ मात्र प्रतीतिमें समुत्पन्न है.

उपरोक्त सभी दार्शनिक विधायें ज्ञानप्राप्तिके साधनरूप शब्द, प्रत्यक्ष तथा तर्क के विविध स्तरोंपर होती प्रामाण्य-अप्रामाण्यकी चर्चाओंके आधारपर निर्णीत है. इन्हीं विचारोंका तथा ज्ञानप्राप्तिके विविध साधनोंके बौद्धिक विश्लेषणसे जन्य परीक्षितका भी प्रश्न है. क्योंकि ज्ञेय पदार्थको 'निर्धर्मक-निर्गुण-निर्विशेष' कहा जा रहा है, तथा उस ज्ञेयके ज्ञानार्थ प्रोवाइडेड् साधनरूपा श्रुति सगुण शब्दरूपा है.

बर्टेन्ड् रसेल्द्वारा कृत प्रत्यक्ष तथा तद्निष्पन्न ज्ञानकी प्रक्रियाका विचार. (१२)

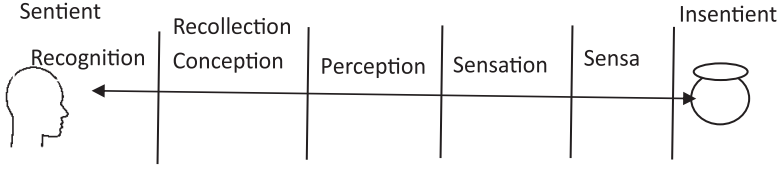

इन्सेन्शीअन्ट् पदार्थसे तात्पर्य यह है कि जिन पदार्थोंको चेतन होनेपर भी हम जड़ मान कर चलते हैं, उनके साथ इन्टॅरॅक्ट् करनेपर हमारा ज्ञान इन सभी अवस्थाओंको पार करके पदार्थका ज्ञान हमें करवाता है. उनके बीच ही पदार्थज्ञानकी अवस्थाओंमें आरम्भवाद विवर्तवाद प्रतीत्यसमुत्पादवाद आदिके निर्णयकी अवस्थाएं आती हैं.

ज्ञान और ज्ञेय पदार्थके बीचकी इस प्रोसेस्के विषयमें महाप्रभु आज्ञा करते हैं कि इन विकल्पोंको ले कर विवाद करनेकी ब्रह्मवादमें आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि ब्रह्मवादमें ज्ञान और ज्ञेय दोनों ही एक ही ब्रह्मके दो स्वरूप हैं. **''सः इममेव आत्मानं द्वेधा अपातयत्''** (बृह.उप.१।४।३). बाहरसे भिन्न प्रतीत होते हुए

भी यद्यपि वे दोनों एक ही हैं फिर भी इस भिन्न प्रतीति होनेके कारण वादी उनकी समीक्षा भिन्न-भिन्न प्रकारसे करने लग जाते हैं. किन्तु वस्तुतः वे दोनों एक ही स्वरूप है. अतः महाप्रभुने इन वादोंके बीच अपना अविकृतपरिणामवाद प्रस्तुत किया.

परीक्षितद्वारा पूछी गई शंकाका भी निराकरण महाप्रभुके अनुसार यही है कि एक ही ब्रह्म शब्दात्मना तथा अर्थात्मना विभक्त हो कर दो स्वरूपोंमें प्रकट होता है. अतः इन दोनों ही रूपोंके बीचमें इन्टॅरॅक्शन् भी उतना ही सहज है जितना कि दो कर्णोंद्वारा श्रवणीय शब्द एक ही होता है.

अतः निर्विकल्पक ब्रह्म ही सविकल्पक नाम-रूप-कर्मात्मक बन जाता है तथा शब्दात्मक श्रुति उसका निर्देश कर पाती है. इन दोनोंके बीचके सम्बन्धको भिन्न मानना आवश्यक ही नहीं है. स्वरूपकोटि ही कारणकोटि तथा कार्यकोटि के रूपमें कल्मिनेट् हो जाती है तथा श्रुतिके साथ यह डायलॉग् आन्तरसंवाद ही होनेसे भिन्न स्वरूपका प्रश्न ही नहीं उठता है. अतः ब्रह्मकी सर्वज्ञताके ऊपर भी कोई संशय उत्पन्न नहीं होता है क्योंकि ब्रह्म स्वयं ही वाच्य-वाचक बनता है.

महाप्रभुके सम्मत अर्थको प्राथमिकरूपमें स्पष्ट कर लेनेके बाद श्रीधरस्वामीकृत विवर्तवादी व्याख्या अवलोकनीय बन जाती है.

श्रीधरस्वामिकृत विर्वतवादमूलक व्याख्यान.

पूर्वपक्षः ''वेदानां ब्रह्मपरत्वं सम्भवति न वा इति पूर्वपक्षम्'' यहां पूर्वपक्ष यह है कि वेदोंका तात्पर्य ब्रह्ममें है या नहीं? शांकरमतानुसार वेद शब्दरूप होनेसे उनका अर्थ मिथ्या है किन्तु उनका तात्पर्य

ब्रह्ममें है. क्योंकि शब्दका अभिधेय अर्थ प्रमाण नहीं माना जाता है मात्र तात्पर्यार्थ ही प्रमाण माना जाता है.

शब्दकी पांच प्रकारकी वृत्तियां :

१.अभिधावृत्ति. यौगिक तथा रूढ़ार्थ को अभिधावृत्तिद्वारा समझा जा सकता है. ब्रह्म निर्धर्मक तथा निर्विशेष होनेसे यह शक्तिद्वारा अर्थ कर पाना भी सम्भव नहीं है.

२.लक्षणावृत्ति = शक्यसम्बन्धो लक्षणा. यौगिक अर्थ तथा रूढ़ अर्थसे सम्बद्ध अर्थको लक्षणावृत्ति कहा जाता है. किन्तु सम्बन्धरहित ब्रह्मकी व्याख्या तो इस वृत्तिद्वारा करना सम्भव नहीं है.

३.गौणीवृत्ति. गुणोंसे निष्पन्न अर्थको गौणीवृत्तिद्वारा समझा जाता है. किन्तु ब्रह्म निर्गुण होनेसे यह भी सम्भव नहीं है.

४.तात्पर्यवृत्ति. वेदोंका तात्पर्य ब्रह्म है अर्थ नहीं.

५.निषेधवृत्ति. 'नेति-नेति'द्वारा निष्पन्न अर्थ. नेगेशन्द्वारा प्रकट होता अर्थ.

पूर्वपक्ष : अतः ब्रह्मका संज्ञान सम्भव नहीं है. ब्रह्म जाति-गुण-धर्म-रहित होनेसे व्याख्या करना भी सम्भव नहीं है. परावाक्के लेवल्से नीचे ब्रह्म ज्ञेय नहीं रह जाता. अतः श्रुतियोंका तात्पर्य ब्रह्म कैसे होगा यह पूर्वपक्ष है.

उत्तरपक्ष : भागत्यागलक्षणा तथा आरोपापवादन्याय द्वारा यहां उत्तरपक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है. शास्त्र, जीव तथा ईश्वर का अभिधान करता है. जन्म-मृत्युके चक्रमें फंसे हुए जीवको इस चक्रसे मुक्त होनेके उपाय बताते हुए श्रुति कहती है कि अपने यथार्थ स्वरूपको समझनेके लिए दयालु ईश्वरने तुम्हें देह प्राण बुद्धि आदि दिये हैं. किन्तु ये तुम्हारा स्वरूप नहीं है. अतः तुम्हें उस ईश्वरका ध्यान करना चाहिए जो मायिक प्रतीत

होते हुए भी मायाद्वारा लुब्ध नहीं है. ऐसे सर्वज्ञ और सर्वेश की कल्पना करो जो मायाके बन्धनोंसे बंधा हुआ नहीं है.

स्वप्नसत्तारूप जगत्में जगत्कर्ता ईश्वरका ध्यान करनेके बाद ईश्वर तथा जीव के ऐक्यका ध्यान करो. यह ज्ञान शास्त्र अभिधावृत्तिद्वारा देता है. उसके बाद जीव यह सोचता है कि ईश्वर तो सर्वज्ञ है जिसके साथ जीवका ऐक्य तो सम्भवित नहीं है. इसलिए उसका नेगेशन् करके अध्यारोपका अपवाद किया जाता है. अत: जीवत्व तथा सगुण ईश्वरत्वके नाशके बाद ही निर्गुण ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्ति होती है. यह अध्यारोप-अपवादकी प्रक्रिया है.

इनके विपक्षरूप रामानुज मध्वाचार्य का मत है, जिनका व्याख्यान क्रमश: किया जाएगा.

श्रीधरस्वामिकृत मायावादपरक अर्थका यदि सारांश समझें तो मायावादके अनुसार चार मुख्य सिद्धांत हैं

१.माया अनिर्वाच्य है.

२.ब्रह्म अवाच्य है.

३.वेदद्वारा ब्रह्म वाच्य है यह भ्रमणा हमें इसलिए होती है क्योंकि निर्गुणब्रह्म मायाके गुणोंसे आरोपित होता है. और यह सगुणब्रह्मका स्वरूप ही वाच्य बन जाता है.

४.श्रुति अपोहनवृत्तिद्वारा ही ब्रह्मका वर्णन कर सकती है.

महाप्रभुद्वारा कृत शब्दशक्तिके अन्तर्गत तात्पर्यवृत्तिका स्वतन्त्रतया स्वीकार.

शांकरों तथा बौद्धों द्वारा स्वीकृत अपोहनवृत्तिके स्थानपर महाप्रभुने तात्पर्यवृत्तिको अलग माना है. बुद्धने अपोहनवृत्तिको मुख्यता प्रदान करते हुए यह कहा कि जब भी किसी वस्तुको बोला जाता है, तब उस वस्तुके नामका अभिधामें अर्थ प्रबल न

हो कर अन्य वस्तुसे व्यावर्तनके अर्थमें अपोहनवृत्तिवाले ही होता है, तभी अन्तिम अर्थ शून्यमें सिद्ध होता है. सद् असत् सदसत् तथा सदसद्विलक्षण इन चार कोटियोंके अर्थ शब्दकी इन तीन शक्तियोंद्वारा निष्पन्न होते हैं. अतः भगवान् बुद्धने **''चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः''** (माध्यमिककारिका.१।७) अर्थात् इन चारों कोटियोंसे भिन्न शून्य-तत्त्व बौद्धोंने कहा.

किन्तु अपोहनका तात्पर्यवृत्तिमें ही पर्यवसान होता है. अपोह बिना तात्पर्यके नहीं हो सकता है. किन्तु तात्पर्य, बिना अपोहके हो सकता है. अतः महाप्रभु श्रीरामानुज तथा श्रीमध्वाचार्य इन तीनों वैष्णवाचार्योंने तात्पर्यवृत्तिका स्वीकार किया है.

श्रीवीरराघवकृत रामानुजसंप्रदायपरक अर्थ.

श्रीरामानुजमतमें श्रीधरकृत अर्थपर छह अनुपपत्तियां उठाई गई हैं:

१.आश्रयानुपपत्ति: मायाका आश्रय कौन बनेगा? क्योंकि जीव तथा निर्गुण ब्रह्म दोनों ही मायाके आश्रय नहीं बन पाएंगे.

२.निवर्तकानुपपत्ति: माया यदि सदसद्विलक्षण है, तो प्रतिबिंबके समान पदार्थका निवर्तन कैसे सम्भव है? उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानद्वारा भी उसका निवर्तन कैसे होगा?

३.प्रमाणानुपपत्ति: मायाके स्वरूपका ऐसा प्रतिपादन करनेमें प्रमाण क्या है? क्योंकि जब तक माया है तब तक प्रमाणकी प्रवृत्ति सम्भव नहीं है तथा प्रमाणकी प्रवृत्ति होनेसे तो माया ही निवृत्त हो जाती है!

४.स्वरूपानुपपत्ति: प्रत्येक पदार्थ या तो सत् या तो असत् होता है. सदसद्विलक्षण पदार्थका स्वरूप कैसा होगा?

५.लक्षणानुपपत्ति: लक्षण देते हैं तो अनिवर्चनीय नहीं रहती. अतः

बिना लक्षण दिये सिद्ध नहीं हो पायेगी.

६.निवर्त्यानुपपत्ति : जो माया निर्विकल्पक ज्ञान सहस्थायी हो वह ज्ञान निवर्त्य कैसे हो पायेगी ?

इन अनुपपत्तियोंको दिखानेके बाद भी श्रीरामानुजने कहा कि वेदका तात्पर्य ब्रह्मको सकलकल्याणगुणगणविशिष्ट माननेमें है तथा हेयगुणोंका प्रतिषेध करनेमें है. अत: मूर्त-अमूर्त, सत्-त्यत्, इन सभी कोटियोंमेंसे प्रसक्तका प्रतिषेध करते हुए 'नेति-नेति' कहा गया है. इस प्रसंजनमें कल्याणगुणोंका प्रसंजन किया है, अकल्याणगुणगणोंमें नहीं. जैसा कि वे अपने भाष्यके मंगलाचरणमें कहते हैं **''अखिलभुवनजन्मस्थेमभंगादि लीले, विनतविविधभूतव्रातरक्षैक-दीक्षे, श्रुतिशिरसि विदीप्ते ब्रह्मणि श्रीनिवासे भवतु मम परस्मिन् शेमुषी भक्तिरूपा''** (श्रीभाष्य मंग.) अर्थात् जितने भी भुवन है उनकी स्थिति तथा नाश जिनकी लीला है, आश्रित भूतोंकी रक्षा करनेमें जो दीक्षित है, उपनिषद्में जो ब्रह्म दीप्त है ऐसे ब्रह्ममें ज्ञानरूपा मेरी भक्ति हो जाए. श्रीरामानुजाचार्यने इन चार पंक्तियोंमें प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलरूप ब्रह्मका निरूपण किया है.

वेदद्वारा निरूपित ब्रह्मस्वरूपके तात्पर्यके निर्धारमें निर्गुणता तथा सगुणता का विचार यदि करें तो महाप्रभु तथा श्रीरामानुजाचार्य, दोनोंका मत यह है कि 'नेति-नेति'में सभी गुणोंका निषेध नहीं किया है. महाप्रभुके अनुसार श्रुतिप्रतिपादित निरूपणका तात्पर्य ब्रह्मकी विरुद्धधर्माश्रयता दिखानेमें है. श्रीरामानुजाचार्यके अनुसार वेदका तात्पर्य कल्याणगुणोंका निर्देश तथा अकल्याणगुणोंका निषेध करनेमें है. शांकरोंने मात्र निषेधवृत्तिमें तात्पर्य माना किन्तु श्रीरामानुज तथा महाप्रभुने तात्पर्यवृत्ति सहकृत निषेधवृत्तिमें तात्पर्य माना है. अत: आभु-कोटिमें उद्देश्य तथा विधेयभावके अभावमें भले ही ब्रह्मको व्याख्यायित करना सम्भव न हो परन्तु आबुभूषाकोटि तथा आभूतकोटि

में तो जगत्की उत्पत्तिके पश्चात् तो विरुद्धधर्माश्रयता युक्त दोनों उद्देश्य-विधेयभाव होनेसे ब्रह्मका निर्देश वेदद्वारा कर पाना सम्भव है ही.

परीक्षितद्वारा पृष्ट प्रश्नकी लाइट्में यदि इस विषयको देखें तो गुणोंकी एनालिसिस् सर्वप्रथम करना आवश्यक है. शांकरों तथा बौद्धों के मतानुसार सभी गुणोंको भौतिक तथा प्राकृत ही मान कर ब्रह्मको उस दृष्टिसे सगुण मान कर अनिर्देश्य कहना उचित नहीं होनेसे सभी प्रकारके गुणोंकी सभी सम्प्रदायोंके मतानुसार कोटि यहां प्रस्तुत की गई है.

(१३)

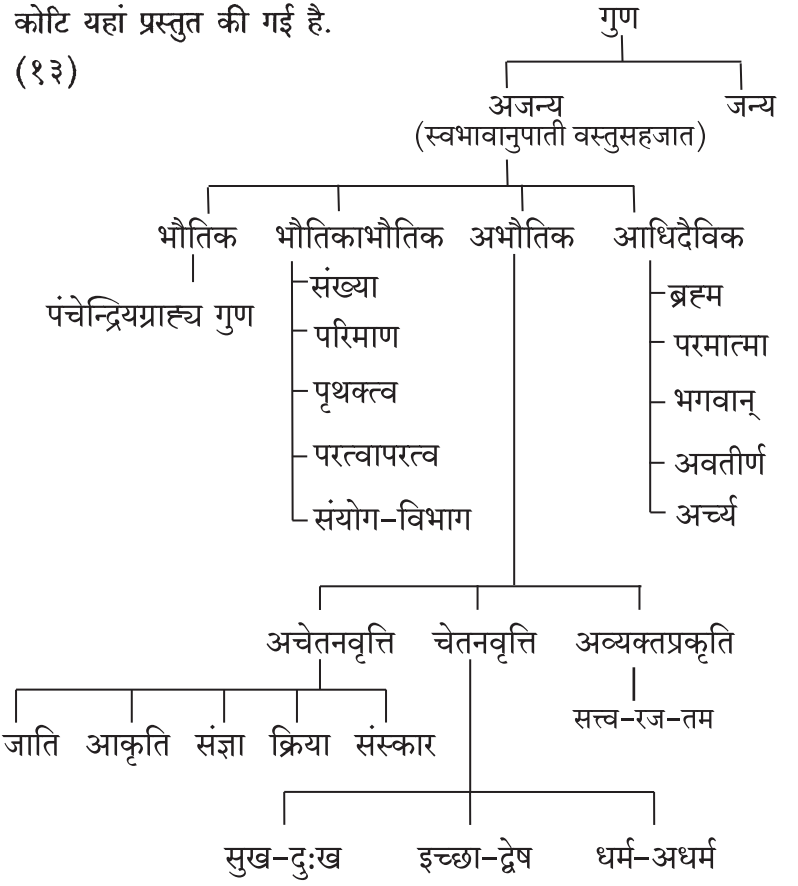

अजन्यगुणके अन्तर्गत :

भौतिक गुणोंसे तात्पर्य यह है कि जो गुण पञ्चेन्द्रियद्वारा गृहीत होते हों. न्यायमतानुसार ये गुण नित्यपदार्थ अणुमें नित्य होते है, तथा अनित्य पदार्थोंमें ये गुण अनित्य होते हैं. किन्तु महाप्रभुके अनुसार गुण द्रव्यमें होते ही हैं क्योंकि गुणोंमेंसे द्रव्यकी उत्पत्ति होती है. तन्मात्राओंमेंसे पञ्चमहाभूतोंकी उत्पत्ति होती है. अतः उन गुणोंका कारणपदार्थतया ही सकल द्रव्योंमें अनुप्रवेश होगा.

भौतिकाभौतिक गुणोंमें संख्या, परिमाण आदि गुण भौतिक तथा अभौतिक सभी पदार्थोंमें होते हैं. जैसे **"यथा अग्नेः क्षुद्राः विस्फुल्लिंगाः व्युचरन्ति"** (बृह.उप.२।१।२०) भगवान्मेंसे होती उत्पत्तिमें भी विभाग समझाया ही गया है.

अभौतिक गुणके अन्तर्गत अव्यक्तरूपा-प्रकृति मूल विकारवाली नहीं होती है. प्रकृतिके सत्त्व रज तथा तमों गुणोंकी उत्पत्ति तो ब्रह्मके सदंश चिदंश तथा आनन्दांश से क्रमशः होती होनेसे वे गुण शुद्ध ही होते हैं. मूलावस्थामें ये गुण विकृत नहीं होते हैं. अतः इनकी साम्यावस्थारूप प्रकृतिको भौतिक नहीं कहा जा सकता. विकृत होनेके बाद भौतिक पदार्थोंकी उत्पत्ति प्रकृतिमेंसे होती है.

अव्यक्त अन्तर्गत अचेतनगुण जाति आकृति आदि अभौतिक होते हुए भी अचेतन है, किन्तु भौतिक नहीं है. अतः वेदमें **"अणोः अणीयान् महतो महीयान्"** (श्वेता.उप.३।२०)में निरूपित आकृति-गुणके निरूपणको भौतिक और हेय मान कर सगुणब्रह्मपरक कहना योग्य नहीं हो सकता है क्योंकि ये भी अभौतिक गुण है. उसी प्रकार संज्ञाको देखें तो ऋग्वेदमें 'कृष्ण' नामक असुर

भी है तथा कृष्ण परब्रह्म भी है. पश्यन्ती वाक्द्वारा प्रज्ञाको संज्ञामें कल्मिनेट् करें तब वह संज्ञा लौकिक तथा अलौकिक दोनों प्रकारकी हो सकती है. क्रिया भी उसी प्रकारसे चेतन-अचेतन दोनों हो सकती है.

चेतनवृत्ति अन्तर्गत गिनाए गए गुण न्यायमतानुसार आत्माके गुण है. किन्तु वैदिकमतानुसार ये सब मनके गुण है आत्माके नहीं. किन्तु ये गुण ईश्वरमें अलौकिक स्टेन्डर्डपर हो नहीं सकते ऐसा नहीं कहा जा सकता है. जैसे **''ईश्वरानुग्रहादेव पुंसाम् अद्वैतवासना''** (खण्ड.खाद्य.१।२४) यहां अद्वैतवासनावालेपर होता ईश्वरका अनुग्रह द्वेषका ओपोज़िट् है. क्योंकि इन्हीं गुणोंका अभौतिक अप्रसक्तरूप ईश्वर तथा भौतिक-जीवों में होता है. इसी प्रकार जीवका कर्तृत्व तथा भगवान्के कर्तृत्व में भेद है. दोनोंको समान कोटिमें रख कर, जैन तथा बौद्धों के मतके अनुसार किया जाता उनके जगत्कर्तृत्वका निषेध यहां नहीं किया जा सकता है. उसी प्रकार लीलया ईश्वरमें धर्म-अधर्म भी माने जा सकते हैं. जीवोंके धर्म-अधर्म क्रियात्मक होते हैं तथा भगवान्के लीलात्मक होनेसे दोनोंमें भेद है; जैसे भगवान्ने गांधारीद्वारा दिये गए शापका लीलात्मक अधर्मतया स्वीकार किया.

आधिदैविक गुण अन्तर्गत ब्रह्म होनेके नाते सर्वोपादानत्व, सर्वाधारत्व, सर्वसमत्व आदि गुण उसमें हैं. जिन गुणोंको अन्योंद्वारा स्वीकृत कारणोंमें सर्वांशमें नहीं देखा जाता है, क्योंकि ब्रह्मके अलावा कोई भी कारण सर्वानुस्यूत नहीं हो सकता है. प्रेरकत्व अन्तर्यामित्व आदि परमात्माके गुण हैं. ये गुण लोकमें नहीं पाए जाते हैं. ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य युक्तता भगवान्के अलावा अपरिमित मात्रामें स्वाभाविकतया कहीं प्राप्त नहीं होते हैं. वराह कृष्ण राम परशुराम आदि स्वरूपोंमें भी भगवान् लीलार्थ

प्राकृत गुणोंका स्वीकार स्वेच्छया करते हैं. उसी प्रकार अर्च्य (श्रीरामानुजमतानुसारी टर्म्) तथा सेव्य (वल्लभसम्प्रदायानुसारी टर्म्) में भी भक्तके भाववश कुछ गुण प्रकट या अप्रकट होते ही हैं. अतः इन सभी कल्याणगुणोंका ब्रह्ममें स्वीकार किया जा सकता है. इनको भौतिक सगुण तथा हेय मान कर निर्गुण तथा सगुण ब्रह्मका भेद करके निर्देश्यता तथा अनिर्देश्यता का भेद करना भी आवश्यक नहीं है. जैसे भागवतमें कहा गया है: **"यद्-यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद् वपुः प्रणयसे सद्-अनुग्रहाय"** (भाग.पुरा.३।९।११)में वपुके प्रणयनमें भगवान् गुणोंका प्रणयन भी करते हैं. अतः इन गुणोंको निर्गुण भगवान्में स्वीकार करते हुए श्रुतिद्वारा किये जाते उनके निर्देशमें कोई दोष नहीं मानना चाहिए.

गुणोंकी एनालिसिस्

(१४)

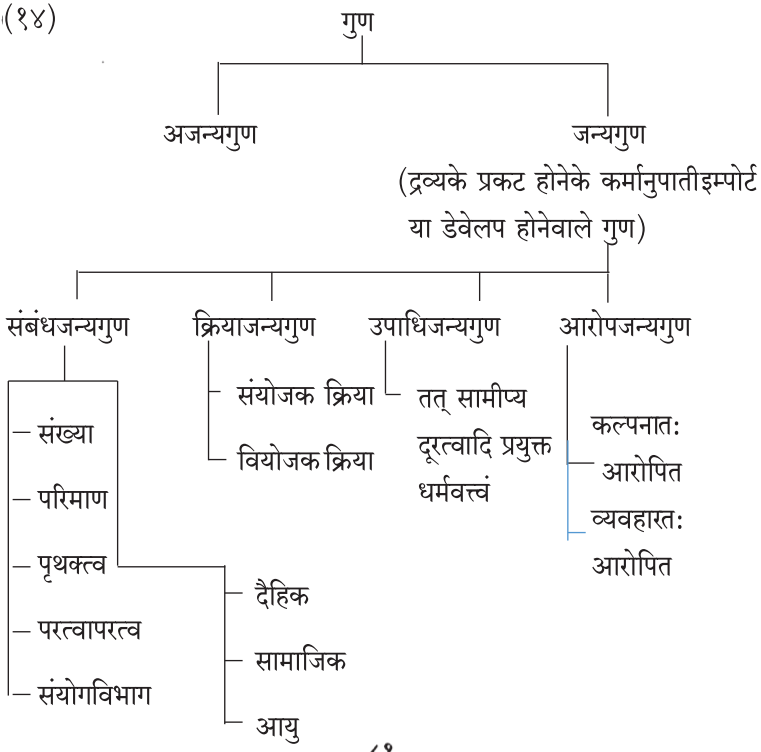

इन सभी प्रकारके गुणोंका अलौकिक स्वरूप ब्रह्ममें सम्भव है तथा इनका लौकिकत्व जीवमें होता है. इन गुणोंके प्रकारके करस्पाँडिंग् निर्गुणताके भी प्रकार हो सकते हैं.

(१५)

निर्गुणता

- जन्यगुणराहित्य
- प्राकृतगुणराहित्य
- भौतिकगुणराहित्य
- अभौतिकगुणराहित्य
- आधिदैविकगुणराहित्य

गुण तथा निर्गुणता के इतने प्रकारोंमेंसे निर्गुणताका केवल एक ही अर्थ न ले कर, ससन्दर्भ तात्पर्यार्थको ध्यानमें रख कर गुणोंका स्वीकार या निषेध करना चाहिए. इस विषयक अन्य आचार्योंद्वारा प्रस्तुत पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष इस प्रकारसे प्राप्त होते हैं.

शांकरमतानुसारी ब्रह्मके गुण तथा निर्गुणताकी व्याख्या.

पूर्वपक्ष : गुण तथा गुणी में द्वैत होनेसे 'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म'में गुणोंका स्वीकार नहीं किया जा सकता है.

उत्तरपक्ष : अत: श्रुति जहां भी ब्रह्मके गुणोंका वर्णन करती है वहां लक्षणावृत्तिद्वारा ये गुण ब्रह्मके नहीं पर मायावश भासित होते ब्रह्मके गुण हैं क्योंकि ब्रह्म तो निर्गुण तथा निर्धर्मक है. अत: सृष्टि-कर्तृतया जहां भी ब्रह्मका वर्णन है वहां भी "**न तस्य कार्यं करणं च विद्यते**" (श्वेता.उप.६।८) न्यायानुसार ब्रह्ममें

कार्य तथा करणत्व न होनेसे मायाके वश ब्रह्ममें इन धर्मोंकी प्रतीति होती है.

शांकरमतके तीन प्रस्थानोंमेंसे एक प्रस्थानके अनुसार ब्रह्मके तीन गुणधर्म सत् + चित् + आनन्द उसके स्वरूपाविरोधी धर्म हैं तथा अन्य गुणधर्म स्वरूप-विरोधी हैं. अपोहवृत्तिद्वारा प्रतिपादित अर्थ ब्रह्मके अद्वैतका बाध नहीं करते किन्तु अभिधावृत्तिद्वारा निष्पन्न अर्थसे अद्वैतका बाध होता है.

महाप्रभुके निकटवर्ती श्रीभास्कराचार्यजीका ब्रह्मके गुणके बारेमें मत.

ब्रह्ममें विविध शक्तियां हैं और वे शक्ति ही जगत्के रूपमें परिणत होती है. द्वैत औपाधिक है तथा अद्वैत स्वाभाविक है. परन्तु यह औपाधिक द्वैत मिथ्या नहीं है क्योंकि वह शक्ति तो ब्रह्मकी ही शक्ति है. अत: श्रीशंकराचार्य कृत अर्थका खंडन यह है कि यदि ब्रह्म सत्य है तथा माया सदसद्विलक्षणा है तो उपाधि मिथ्या कैसे हो सकती है!

महाप्रभुने भी शक्ति तथा शक्तिमान में ऐक्यका स्वीकार किया है. अत: महाप्रभु अंशत: स्वरूपपरिणामवादी हैं तथा श्रीभास्कराचार्य शक्तिपरिणामवादी हैं.

महाप्रभुद्वारा प्रतिपादित ब्रह्मके गुण तथा निर्गुण के बारेमें सिद्धांत.

ब्रह्म तथा ब्रह्म के धर्मोंमें भेद नहीं है. गुणधर्म ब्रह्मात्मक है इसलिए गुण तथा गुणी का द्वैत सम्भव नहीं है. मॉडर्न्-सायन्स्के अनुसार भी एनर्जी ही कन्डेन्स् हो कर मॅटर् बनती है तथा कोई भी मॅटर्, बिना एनर्जीके हो नहीं सकता है. इसी प्रकार शास्त्रके अनुसार भी तन्मात्रा ही घनीभूत हो कर महाभूत बनती

होनेसे गुण तथा गुणी में द्वैत होनेकी आपत्ति यहां घटित नहीं होती है. जगत्कर्तृत्व होनेके गुणका स्वीकार भी ब्रह्ममें इस प्रकार किया है : **''ईश्वरस्यापि ईशितव्यापेक्षणात् सृष्टिः''** (सुबो.३।९।९) अर्थात् ब्रह्ममें ईश्वर होनेकी शक्ति है. अत: जब भी ब्रह्म उस गुण-शक्तिको आउटलेट् देता है तब सृष्टि प्रकट हो जाती है. इस सिद्धान्तके अनुसार गुण तथा गुणी में अभेदका स्वीकार किया है. अत: यहां द्वैत घटित नहीं होनेसे ब्रह्ममें गुणोंका स्वीकार करनेमें कोई आपत्ति नहीं है.

अत: गुण सभी मिथ्या हैं ऐसा जनरलाइज्ड् सिद्धान्त नहीं दिया जा सकता है. ब्रह्मके गुण तथा निर्गुणता की व्याख्या भिन्न होनेसे निर्गुण शब्दप्रयोगका तात्पर्य सभी गुणोंसे रहित होना नहीं किया जा सकता है पर अर्धजरतीयन्यायेन कॉन्टेक्च्युल् अर्थ लेना चाहिए. श्रीशंकराचार्यकी तरह सभी गुणोंको सगुण मायोपहित ब्रह्मपरक बता कर अभिधावृत्तिद्वारा किये गए वेदके अर्थका निषेध कर केवल अपोहनवृत्तिका ही स्वीकार, ऐसा स्टॅन्ड् न ले कर प्राकृत गुणोंका निषेध तथा अप्राकृत गुणोंका लीलार्थ स्वीकार करना चाहिए. जैसा कि श्रीगुसांईजीने सर्वोत्तमके मंगलाचरणमें प्रतिपादित किया है : **''प्राकृतधर्मानाश्रयम् अप्राकृतनिखिलधर्मरूपम् इति निगमप्रतिपाद्यं यत् तत् शुद्धं साकृति स्तौमि''** (सर्वो.स्तो.१). यही ब्रह्मकी निर्गुणता तथा गुणों के स्वीकारनेका तात्पर्य है. क्योंकि प्रकृतिके घटक सत्त्व रजस् और तमस् गुण अप्राकृत ब्रह्मद्वारा गृहीत=प्रादुर्भावित है. जिन तीन सच्चिदानन्द गुणोंकी साम्यावस्था प्रकृति ब्रह्म धर्म-धायभूत अक्षरब्रह्मकी सदंशरूपा वह होती है. इस अर्थमें प्राकृतधर्मोंका ब्रह्म साक्षाद् आश्रय नहीं माना जाता. अत: परीक्षितद्वारा पृष्ट प्रश्नका भी उत्तर यही है कि निर्गुण(अप्राकृतगुणधर्मवाले) ब्रह्ममें श्रुति चरण कर सकती है.

ब्रह्मसूत्रके प्रथम सूत्रमें प्रतिपादित ब्रह्मजिज्ञासा तथा परीक्षितद्वारा उपस्थित शंकाओंमें पारस्परिक सम्बन्ध.

सूत्रकी व्याख्या इस प्रकार दी जाती है: **''स्वल्पाक्षरम् असन्दिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम् अस्तोभम् अनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः''** अर्थात् स्वल्प अक्षरवाला हो, व्यञ्जनावृत्तिसे विशेष अर्थ प्रकट होता हो, उसका मल्टिपल् ॲप्लिकेशन् सम्भव हो और शब्दके स्ट्रक्चर् तथा अर्थमें दोष न हो, उसे सूत्र कहा जाता है.

प्रस्तुत विषयमें ब्रह्मसूत्र तथा वेदस्तुति में ब्रह्म-विषयक शंकाओंका पारस्परिक सम्बन्ध विचारणीय है. ब्रह्मसूत्रका प्रथम सूत्र है: **''अथातो ब्रह्मजिज्ञासा''** (ब्र.सू.१।१।१). इस सूत्रमें **'ब्रह्मजिज्ञासा'**पदसे पूर्व कहे गए **'अथ'** तथा **'अतः'** पदोंके अर्थका विचार अपेक्षित है क्योंकि इन शब्दोंके अर्थका प्रभाव न केवल ब्रह्मजिज्ञासापर, अपितु सम्पूर्ण ब्रह्मविषयक मीमांसापर पड़ता है. 'अथ'शब्दके चार सम्भवित अर्थ हैं:

१.विषयके आरम्भमें इस शब्दका प्रयोग किया जाता है.
२.पूर्व विषयके बाद आनन्तर्यमें नये विषयको द्योतित करनेके लिए प्रयोग होता है.
३.अर्थान्तरोपक्रममें
४.मंगलाचरणके रूपमें प्रयोग होता है.

'अतः'शब्द प्रयोजनका द्योतन करता है. ब्रह्मसूत्रके प्रथम सूत्रके अन्तर्गत 'अथ'शब्दका इनमेंसे क्या तात्पर्य लेना यह विचारणीय विषय है. सभी भाष्यकारोंने इस शब्दके अर्थका तात्पर्य इस प्रकार बताया है:

१.श्रीशंकराचार्य : ''नित्यानित्यवस्तुविवेकः इहामुत्रार्थफलभोगविरागः शमदमादिसाधनसम्पत् मुमुक्षुत्वञ्च'' (ब्र.सू.शां.भा.१।१।१) इन

चारों आवश्यकताओंसे सम्पन्न-अधिकारीको ही ब्रह्मजिज्ञासा होती है. इन सभी मोक्षोपयोगी साधनोंसे सम्पन्न-अधिकारी जब ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब **''ब्रह्मविद् आप्नोति परम्''** (तैत्ति.उप.२।१) सिद्धांतानुसार वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है.

२.श्रीरामानुजाचार्य : ''कर्मानन्तरं ब्रह्म जिज्ञासितव्यम्'' वेदके पूर्वकांडके तात्पर्य स्वरूप मीमांसासूत्रोंमें प्रकटित **''अथातो धर्ममीमांसा''** (जै.मी.सू.१।१।१)का ज्ञान प्राप्त कर लेनेके बाद कर्मद्वारा चित्तशुद्धि मात्र होती है. ज्ञानात्मिका भक्तिकी **''शेमुषी भक्तिरूपा''** (ब्र.सू.रा.श्रीभा.मं.) सिद्धि अथवा तो वेदके उत्तरकांड (ज्ञानकांड)का ज्ञान प्राप्त करनेके लिए **''अथातो ब्रह्मजिज्ञासा''** प्रकट होती है. अत: उन्होंने 'अथ'शब्दका तात्पर्य आनन्तर्यमें माना है.

३.श्रीवल्लभाचार्य : 'अथ'शब्दका तात्पर्य आनन्तर्यमें नहीं है. नये विषयका आरम्भ ही यहां तात्पर्य है. श्रीरामानुजाचार्यद्वारा प्रतिपादित अर्थका स्वीकार इसलिए नहीं किया है क्योंकि धर्मजिज्ञासा प्रकट होनेके बाद ही धर्मद्वारा जिज्ञासासिद्धि अनिवार्य नहीं है. श्रीशंकराचार्यद्वारा प्रतिपादित अर्थ भी इसलिए असंगत है क्योंकि मात्र ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेनेसे मोक्ष नहीं होता है. जिज्ञासाद्वारा मात्र संशयोंका निवारण होता है तथा संशय निवृत्त हो जानेके बाद साधन करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है. क्योंकि सूत्रका प्रयोजन है : **''सन्देहवारकं शास्त्रं बुद्धिदोषात् तदुद्भव:''** (ब्र.सू.भा.का.१।१।१) अर्थात् बुद्धिमें प्रकट होते संशयोंका ही निवारण शास्त्रद्वारा होता है, मुक्ति नहीं हो जाती है जैसी श्रीशंकराचार्य प्रतिपादन करते हैं. 'अथातो'शब्दके विचारित तात्पर्यार्थका प्रभाव उनकेद्वारा प्रस्तुत पूर्वपक्ष सिद्धान्त आदिपर भी पड़ता होनेसे सम्पूर्ण ब्रह्मसूत्रका व्याख्यान इसी अर्थके आधारपर किया जाता है.

'अथातो'शब्दके किये गए अर्थोंसे यह प्रश्न उठता है कि

यदि ब्रह्मको अवाच्य माना जाए तो वेदके उत्तरकांडके साररूप ब्रह्मसूत्रमें प्रकटित ब्रह्मविषयक जिज्ञासा ही व्यर्थ हो जाएगी! क्योंकि 'सत्' तथा 'असत्' से परे ब्रह्म यदि इन्टॅरॅक्टेबल् ही न हो तो वेदकी जिज्ञासा प्रकट करना व्यर्थ ही होगा. ब्रह्मजिज्ञासा तथा धर्मजिज्ञासा दोनों ही व्यर्थ हो जाएगी. ब्रह्मसूत्रमें उपस्थित इस शंकाके आधारपर परीक्षितद्वारा उपस्थित ब्रह्मजिज्ञासाका स्वरूप यदि देखें तो अर्थ विशेषरूपसे स्पष्ट होगा.

महाप्रभुद्वारा विवेचित ''अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'' सूत्रका अर्थ तथा ब्रह्मकी वाच्यता-अवाच्यता सम्बन्धी निर्णय.

महाप्रभु आज्ञा करते हैं: ''**ब्रह्मणः इति न कर्मणि-षष्ठी, किन्तु शेषषष्ठी**'' (ब्र.सू.भा.१।१।१) अर्थात् यहां केवल ब्रह्मकी नहीं अपितु ब्रह्मसम्बन्धी प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलकी भी जिज्ञासा प्रकट की गई है. ब्रह्मजिज्ञासाके इस रेडियसमें पूर्वनिरूपित जन्य-अजन्य-गुण भी आ जायेंगे. इसी प्रकार ''**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**''के बाद ''**शास्त्रयोनित्वात्**'' (ब्र.सू.१।१।२) सूत्र कहा गया है. यहां सन्देह यह होता है कि ब्रह्मको यदि प्रमेय माना जा रहा है तो उसका निरूपक प्रमाण वेद है कि नहीं? यदि वेद है तो परीक्षितके ही समान यहां भी प्रश्न उपस्थित होता है कि ब्रह्म शब्दद्वारा वाच्य है या नहीं? अतः यहां सर्वप्रथम ब्रह्मसूत्रके कॉन्टेक्स्टमें भी ब्रह्मकी वाच्यता तथा अवाच्यता का निर्णय करना आवश्यक हो जाता है. क्योंकि ब्रह्मको अवाच्य कह देनेसे वेदकी जिज्ञासा व्यर्थ हो जाती है तथा वेदके प्रामाण्यका उच्छेद कर देनेसे वेदान्तवेद्य ब्रह्म रूपी प्रमेयका भी उच्छेद हो जाएगा. वरविघातार्थ कन्यादान सदृश कथा लगती है. ब्रह्मकी जिज्ञासा करनी इसलिये कि ब्रह्म अवाच्य तथा अजिज्ञास्य सिद्ध होता है.

श्रीशंकराचार्यके मतमें अनुपपत्ति यह है कि उनकेद्वारा कृत

'अथ'शब्दके अर्थका स्वीकार करनेसे सम्पूर्ण ब्रह्मसूत्रोंपर विचार ही व्यर्थ सिद्ध हो जाता है. जैसे :

१.प्रमाणाध्याय : यदि ब्रह्म अवाच्य है तो प्रमाण रूपी वेदका विचार व्यर्थ होगा.

२.प्रमेयाध्याय : माया तथा ब्रह्म दोनों प्रमेयोंका स्वीकार करनेसे जिस ब्रह्म रूपी प्रमेयका निरूपण ब्रह्मसूत्र **''जन्माद्यस्य यतः''** द्वारा किया है वहां मायावादानुसार माया-शबलित-ब्रह्मका प्रवेश हो जानेसे वैदिक प्रमेयका विचार भी व्यर्थ सिद्ध हो जाएगा.

३.साधनाध्याय : जीवस्वरूपका विचार **''तत् त्वम् असि''** (छान्दो.उप.६।८।७) श्रुतिवचनकी भागत्यागलक्षणा करके तथा ब्रह्मस्वरूपका विकृत अर्थ करनेसे शास्त्रीय प्रमेयका विचार भी अनुपपन्न होता है. फलतः साधना भी प्रस्तुत नहीं रह जाती है.

४.फलाध्याय : साधनाका स्वरूप शुद्ध न रह जाता होनेसे फलका भी कोई प्रश्न उपस्थित नहीं रह जाता है.

किन्तु शास्त्रमें फलके सन्दर्भमें भी मात्र निर्गुण मुक्तिका ही विचार नहीं है, सालोक्य सार्ष्टि सारूप्य आदि सगुण मुक्तिके भी प्रकार बताए हैं. इसलिए गुणोंका स्वीकार भी प्रसक्त हो जाता है. क्योंकि ब्रह्म विषयक जिज्ञासामें ब्रह्मसम्बन्धी अन्य विषयोंकी जिज्ञासा भी प्रस्तुत की गई है. 'जिज्ञासा' शब्दसे तात्पर्य है : असम्भावना और विपरीत भावनाओंकी निवर्तक उपपत्तियोंका विचार. इसी प्रकारकी जिज्ञासा परीक्षितद्वारा प्रस्तुत किए गए प्रश्नमें भी है.

ब्रह्मसूत्रमें प्रस्तुत जिज्ञासा तथा वेदस्तुतिके पूर्वपक्षकी तुलनात्मक समीक्षा.

ब्रह्मसूत्रमें श्रुतिके तात्पर्यार्थ सम्बन्धी पूर्वपक्ष है तथा वेदस्तुतिका पूर्वपक्ष वेदके प्रियेम्बल् सम्बन्धी है. यदि वेदस्तुतिमें पृष्ट जिज्ञासाका

समाधान होगा तथा ब्रह्म वाच्य बनेगा तभी वेदार्थरूप प्रमेय=ब्रह्मकी ब्रह्मसूत्रानुसारी जिज्ञासा प्रकट होगी. क्योंकि ब्रह्मजिज्ञासासे पूर्व वेदस्वरूपकी जिज्ञासा है. यह जिज्ञासा ब्रह्मके आत्मचिन्तनकी परावाक्में प्रकटी हुई जिज्ञासा है, जिसे परीक्षित वेदस्तुतिमें आउट्लेट् दे रहे हैं कि भगवान् शब्दद्वारा वाच्य है या नहीं ?

परीक्षितकी इस जिज्ञासाकी पूर्वभूमिका उपनिषद्में वर्णित विषय है. जब योगनिद्रास्थ ब्रह्मने जाग्रत होनेके बाद स्वयं अपने स्वरूपकी जिज्ञासा प्रकट की जिसका वर्णन उपनिषद्में इस प्रकार किया है: **''सो अनुवीक्ष्य न अन्यद् आत्मनो अपश्यत्''** (बृह.उप.१।४।१) **''तन्मनो अकुरुत आत्मन्वी स्याम्''**. (बृह.उप.१।२।१) अर्थात् ब्रह्मने अन्वीक्षा प्रकट की तथा स्वयं अपने स्वरूपका आत्मचिन्तन किया कि मेरेमें नाम-रूप-कर्ममें परिणत होनेकी कितनी शक्ति छुपी हुई है. भगवान्ने उस अन्वीक्षामें स्वयं अपने गुणोंका चिन्तन किया और आत्मन्वी होनेकी इच्छाके वश अथवा जिसके रॅफरन्स्में वह आत्मन्वी हो पाए ऐसे अन्तर्निहित नाम-रूप-कर्मों रूपी गुणोंमेंसे ब्रह्मने ब्रह्मांडको रचा. अत: गुण तथा गुणी के समान स्वरूप (वन्-टु-वन् करपॉन्डन्स्) ब्रह्मके प्रकट होते हैं.

ईश्वर-ईशीतव्य, सृष्टा-सृष्टि, अर्थ-वाणी आदि

इस वर्णनके आधारपर सगुणब्रह्मवादी विचारक ब्रह्ममें सभी गुणोंका स्वीकार करते हैं. उन गुणोंमें सिलेक्शन् करते हुए रामानुजोंने यह कहा कि ब्रह्ममें कल्याणगुणगण है, किन्तु हेयगुणगण नहीं है.

महाप्रभु विरुद्धधर्माश्रयतावादी होनेसे उनके मतमें थोड़ा भेद है, जिसे महाप्रभु स्वयं बताते हैं **''प्रत्यक्षादृष्टविषये पदार्था: श्रुतिबोधिता: परस्परं विरुद्धा: ते न एकशेषं भजन्ति हि, उभयो: वैदिकत्वेन क:**

स्याद् अत्र नियामकः विचारकाणां बुद्धिस्तु सोपजीव्या श्रुतेः सदा''. (सुबो.२।९।३२) अर्थात् श्रुतिद्वारा प्रतिपादित होनेसे ब्रह्म एक वर्बल्-कन्सॅप्ट् है तथा ब्रह्मका एम्पिरिकल् या लॉजिकल् कन्सॅप्शन् सम्भव नहीं है. अतः वर्बल्-कन्सॅप्ट् होनेसे उसे समझनेके लिए प्रमाण भी शब्द ही होगा, प्रत्यक्ष आदि नहीं. ब्रह्मके गुणतया स्वीकृत सत्+चिद्+आनन्दमेंसे 'सत्'गुणधर्म प्रकट तथा क्रियाशील है. प्रकट तथा अप्रकट का भेद क्रियासे ही आयेगा. 'चित्'गुणधर्म विज्ञान तथा अविज्ञान रूप है. विज्ञानके चार अर्थ हैं: श्रुति, ऐतिह्य, प्रत्यक्ष तथा अनुमान. इन चारोंके कॉरस्पॉन्डिंग् कोई कन्सेप्ट् है, जिसका विज्ञान होता है. अतः ब्रह्म एक वर्बल्-कन्सेप्ट् है यह सिद्ध होता है.

भगवान् बुद्धने इसीका अर्थ 'शून्य' बताया परन्तु महाप्रभुके अनुसार यह कन्सॅप्ट् 'ब्रह्म' है. जैसे मॉर्डन्-सायन्स्के मतानुसार टाइम् तथा स्पेस् निषेधशेषजयताद् अशेष है तथापि उनमें रिवील् होते मॅटर् ॲनर्जी तथा ॲक्शन् है. इसी प्रकार ब्रह्ममें जो प्रकट है वो 'है' ऐसा हम समझते हैं तथा जो अप्रकट है उसे 'नहीं है' ऐसा मान लेते हैं. यदि नहीं है कहेंगे तो 'कहां नहीं है' के उत्तरके रूपमें अधिष्ठानतया ब्रह्म निषेधवृत्तिद्वारा सिद्ध हो ही जाते है.

भगवान् बुद्ध शून्यतत्त्वको सिद्ध करनेके लिए दो वृत्तियां समझाते हैं: प्रमाणवृत्ति तथा विकल्पवृत्ति. इन्हें समझाते हुए भगवान् बुद्ध भी योगदर्शनकी तरह कहते हैं **''शब्दज्ञानानुपातिवस्तुशून्यो विकल्पः''** (पा.यो.सू.१।९) अर्थात् जहां मात्र शब्दज्ञान हो तथा उसका विषय न हो तो उसे विकल्पवृत्ति मानना चाहिए, विषयके न होनेके कारण. अतः जगत् ब्रह्म पदार्थ बुद्धि आदिके कॉरस्पॉन्डिंग्

कोई विषय न होनेसे यह सभी शब्दप्रयोग विकल्पवृत्ति माने जाऐंगे.

किन्तु यहां अनुपपत्ति यह है कि यदि भगवान् बुद्धद्वारा उपस्थापित यह सिद्धान्त भी विकल्पवृत्तिगम्य हो तो यह सिद्धान्त, सिद्धान्त ही नहीं रह जाएगा. तथा यदि ये सिद्धान्त प्रमाणवृत्तिसे सिद्ध होता हो तो वेदद्वारा कथित ब्रह्मकी वाच्यता भी प्रमाणवृत्तिसे सिद्ध मानी जाएगी.

अत: "**कथं चरन्ति श्रुतय:**" प्रश्नका समाधान यहां हो जाता है कि अप्रकट होनेसे वे गुण, गुण नहीं रह गए ऐसा सिद्धान्त नहीं दिया जा सकता है. तथा गुणोंके उच्छेदके अप्रकट होनेके आधारपर करना योग्य नहीं है. आविर्भाव-तिरोभावके सिद्धान्तके अनुसार सभी गुण नाम रूप कर्म ब्रह्ममें नित्य रहते हैं तथा स्वरूपसिद्ध हैं. ब्रह्म अत: जब उन गुणोंको प्रकट करना चाहता है तो अपरिमित शक्तियुक्त ब्रह्मकी कुछ शक्तियां प्रकट हो जाती हैं. ब्रह्म अवाच्य है पर वाच्य बन सकता है—ब्रह्मको स्वीकार न करनेवालोंमें भी भ्रम या वासना तो कहीं तो यह सामर्थ्य स्वीकारनी पड़ती है.यह कथा भिन्न है. अनमने ढंगसे स्वीकारनेके कारण बादमें संवृतिसत्य कहना पड़ता है—क्योंकि वाच्य-वाचक दोनों शक्ति ब्रह्ममें अन्तर्निहित है. उन शक्तियोंमेंसे आनन्द शक्तिका तिरोधान करने पर ब्रह्म "**विज्ञानञ्च अविज्ञानञ्च**" बन जाता है. चित्शक्तिका भी तिरोधान करनेपर वह नाम-रूप-कर्मात्मक बन जाता है. उपनिषद् उस स्वरूपका वर्णन "**निरुक्तञ्च अनिरुक्तञ्च निलयञ्च अनिलयञ्च...सत्यञ्च अनृतञ्च**" (तैत्ति.उप.२।६) द्वारा करता है. ये सभी शक्तियां बाहर आ जाती हैं. जब श्रुति उनका वर्णन शब्दशक्तिद्वारा कर सकती है तब ब्रह्म वाच्य बन जाता है. अत: इस तादात्म्य रूपी भेदसहिष्णु अभेदका स्वीकार करना

ही ब्रह्मवाद है!!!

ब्रह्मके अजन्यगुण अन्तर्गत आधिदैविकगुणोंकी मीमांसा.

(१६)

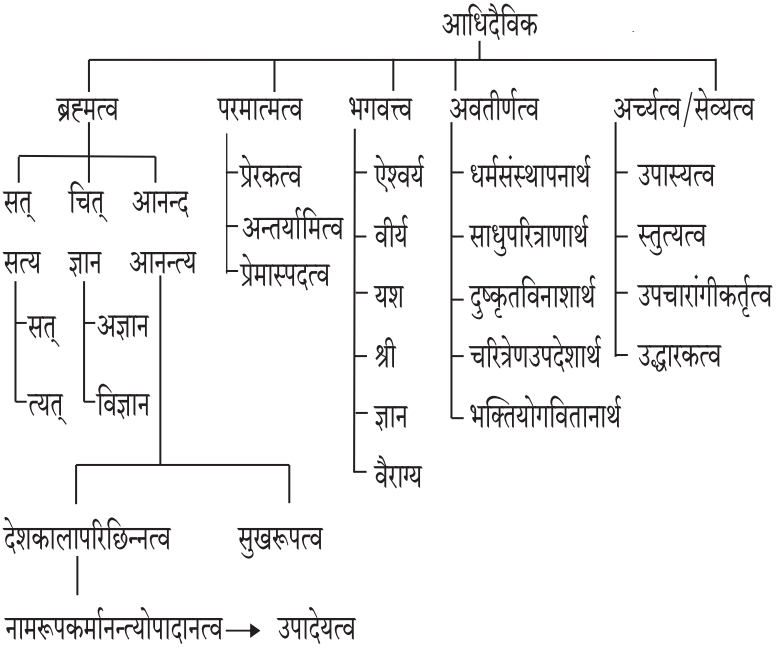

ब्रह्मत्व : ब्रह्मशब्दका पदविधिसे संकुचित अर्थ ''सच्चिदानन्द ब्रह्म'' है तथा इसी पदका वाक्यविधिसे अर्थ ''सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म'' है. सत् ही 'सत्-त्यत्', 'निरुक्त-अनिरुक्त' बन जाता है तथा चित् ही 'ज्ञान-विज्ञान' बन जाता है. आनन्दगुणधर्ममेंसे अनन्त 'नाम-रूप-कर्म' उत्पन्न हो जाते हैं. ब्रह्मके आनन्त्यमें जब ये नाम-रूप-कर्म छुप जाते हैं पदविधिसे तब ब्रह्म अनिरुक्त बन जाता है तथा जब ये प्रकट हो जाते हैं तब ब्रह्म निरुक्त बन जाता है. महाप्रभु आज्ञा करते हैं ''**ब्रह्मवादे निरुक्तिस्तु न**

वक्तव्यैव कुत्रचिद् वस्तुतः ब्रह्म सर्वं हि व्यवहारस्तु लोकतः'' (पत्रावलंबन ३). निरुक्त होनेसे तात्पर्य है कि सामान्य तथा विशेष दोनों ही प्रकारके लक्षणोंसे होता वाणीका व्यवहार. परीक्षितके प्रश्नमें भी **''कथं चरन्ति श्रुतयः''**में यही शंका है कि श्रुतिद्वारा वाच्य कहनेपर सामान्य तथा विशेष दोनों लक्षणोंको कहना आवश्यक माना जाएगा. इन दोनों लक्षणोंका तात्पर्य है कि प्रत्येक नाम-रूप-कर्म अपने स्वरूपमें आत्मलक्षण होते हैं.

भगवान् बुद्ध भी इन नाम-रूपोंको स्वलक्षण बताते हैं. किन्तु प्रत्येक पदार्थ ब्रह्मवादमें मात्र स्वलक्षण न हो कर सामान्य तथा विशेष लक्षणयुक्त होता है क्योंकि ब्रह्म स्वयं ही प्रत्येक नाम-रूप-कर्म बना है. अतः जड़-जीव होते हुए भी **''एकमेव अद्वितीयं''** (छान्दो.उप.६।२।१) ब्रह्मका अंश होना प्रत्येक पदार्थका सामान्य लक्षण होगा तथा सृष्टिके लेवल्पर उनका स्वरूप विशेष लक्षणयुक्त होगा. क्योंकि एक नाम-रूप अपर नाम-रूप में तिराहित होनेसे आत्मलक्षण बन जाता है. जैसे रेशनलिटी मनुष्यका विशेषलक्षण(स्वलक्षण) है तथा ॲनिमल् होना सामान्यलक्षण है.

जैसे श्रुति जब **''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म''** (तैत्ति.उप.३।१)द्वारा ब्रह्मका निरूपण करती है तब, यहां ब्रह्मके तथा नाम-रूप-कर्मोंमें दोनों ही प्रकारके लक्षण कहे जा रहे हैं. क्योंकि **''सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म''** व्याख्यामें पदविधि होनेसे नाम-रूप-कर्मोंका तिरोभाव बताया गया है तथा **''यतो वा इमानि...''** वाक्य होनेसे सत् ज्ञान तथा आनन्द का ही विस्तार करके रूप-नाम-कर्मोंका प्राकट्य बताया गया है. अतः ब्रह्मको निर्गुण तथा निराकार कहनेमें नाम-रूपोंका अत्यन्ताभाव न होकर, पदविधि तथा वाक्यविधि से निरूपणशैलीमें भेद होनेसे नाम-रूपोंका ब्रह्ममें तिरोधान तथा ब्रह्ममेंसे

आविर्भाव बताना है. क्योंकि 'ब्रह्म'पदका अर्थ है : **''बृहत्वाद् बृंहणत्वाद् तद् 'ब्रह्म'इति''** (विष्णुपुरा.३।३।२१) **''बृहन्तो यस्य गुणाः''** (द्र.वेदान्तसार.उपोद्घात). अतः ऑल्-इन्क्लुज़िव् होना ही ब्रह्मका लक्षण है. ब्रह्मको 'अनन्त' कहना अपोहनवृत्तिसे किया गया अर्थ है. श्रीशंकराचार्यने अपोहनवृत्तिका स्वीकार किया होनेसे 'अनन्त'का तात्पर्य देश काल तथा स्वरूप से परिच्छिन्न न होना लिया है. किन्तु अपरिच्छिन्न शब्दका अर्थ तो ब्रह्मके करस्पॉन्डिंग् नाम-रूपोंके परिच्छेदको स्वीकार करने पर ही समझमें आएगा, जिनके करस्पॉन्डिंग् ब्रह्मको अपरिच्छिन्न कहा जाएगा. इन तीन परिच्छेदोंके नेगेशन्द्वारा ब्रह्मको डिफाइन् करनेके लिए भी तो नाम-रूपोंका स्वीकार करना ही पड़ेगा. इन तीन प्रकारके परिच्छेदोंको ब्रह्मसे उत्पन्न सृष्टिमें ही मानना पड़ेगा, मायाद्वारा सप्लाइड् माननेपर तो ब्रह्मकी एकमेवाद्वितीयता ही खंडित हो जाएगी. अतः शांकरमतमें उत्पन्न होती इन अनुपपत्तियोंका निराकरण इसी प्रकार हो सकता है कि ब्रह्मकी स्वरूपकोटिमें ये नामरूपकर्म तिरोहित रहते हैं तथा कारण-कार्यकोटिमें ये आविर्भूत हो जाते हैं क्योंकि सत् चित् आनन्द ब्रह्मके गुण हैं.

श्रीशंकराचार्यने ब्रह्ममें कर्ता होनेके गुणका भी निषेध किया है क्योंकि ब्रह्म आप्तकाम है तथा कर्तृत्व तो कामनाकी पूर्तिके लिए ही प्रकट होता है. किन्तु यदि ब्रह्ममें अलौकिक स्टेन्डर्ड्के सत्यत्व चेतनत्व प्रियत्व आदि धर्म माने जा सकते हैं तो अलौकिक कर्तृत्व माननेमें क्या आपत्ति हो सकती है. महाप्रभु अतः यहां अनुपपत्ति प्रकट करते हैं कि सत्यत्व सृष्टिमें तो देशकालवर्ती होता है. यदि ब्रह्ममें ऐसा ही लौकिक सत्यत्व मानेंगे तो ब्रह्म अनित्य सिद्ध होगा. यदि यहां ब्रह्मके सत्यत्वमें ऐसा लौकिकत्व नहीं माना जाता है तो ब्रह्मके कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व में अलौकिकत्व क्यों नहीं माना जाता सकता है. इसके अलावा उपनिषद्ने स्वयं

ही **''यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखं अस्ति भूमैव सुखं भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य''** (छान्दो.उप.७।२३।१)द्वारा इस अलौकिक सुखगुणका निरूपण भी ब्रह्ममें किया है.

श्रीशंकराचार्य स्वयं भी **''अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम च इति अंश-पञ्चकम्''** (सि.ले.सं.२।८)में 'होना' तथा 'भासित होना' और 'प्रिय होना' इन तीनोंको ब्रह्मके गुण मानते हैं. यदि इन तीन गुणोंका स्वीकार ब्रह्ममें किया जा सकता है तो अन्य गुणोंका अस्वीकार ब्रह्ममें नहीं किया जा सकता होनेसे ब्रह्ममें सत्-चित्-आनन्द गुणधर्मोंका स्वीकार उनके वाक्यविधिनिरूपणमें निरूपित नाम-रूप-कर्मोंके स्वीकारद्वारा ही करना होगा.

परमात्मत्व : परमात्मामें भी आत्माके प्रति कृति-मति प्रेरकत्व गुण मानना होगा. परमात्माके प्रेरकत्वके सामने पूर्वपक्षके रूपमें निरीश्वर सांख्यमार्गमें प्रकृति-पुरुषद्वारा सृष्टिकी उत्पत्ति मानी गई है. इसी पूर्वपक्षके सन्दर्भमें महाप्रभु ब्रह्मसूत्र **''अथातो ब्रह्मजिज्ञासा''**का अर्थ ब्रह्मविषयक जिज्ञासा न करके ब्रह्ममें क्रियाशक्ति(सत्-गुणधर्मद्वारा) तथा ज्ञानशक्ति(चित्-गुणधर्मद्वारा) है या नहीं, ऐसी जिज्ञासाका स्वरूप बताते हैं. इसे स्वीकार किए बिना जगत्की उत्पत्ति, जिस तरहसे सांख्यानुसारी ॲक्सिडेन्टल् प्रक्रियाद्वारा होती है, ऐसे नहीं मानी जा सकती. अतः कन्ट्रोलर्के रूपमें परमात्माका प्रेरकत्वधर्म भी इम्पेरिकली जस्टिफाइ नहीं किया जा सकता है, तथापि इस धर्मका निषेध भी सम्भव नहीं है, क्योंकि आत्माके कॉन्टेक्स्टमें ब्रह्म परम होनेसे परमात्मा है.

भगवत्त्व : भगवान्के ऐश्वर्यादि धर्म क्यों एब्सोल्यूट् नहीं हो सकते हैं? क्यों किसी अन्य पदार्थके अपेक्षासे ही ब्रह्मके ऐश्वर्य वीर्य यश श्री आदि होंगे. जीवमें ये सब धर्म देशकालमें परिच्छिन्न

होनेसे रिलेटिव् हैं, परन्तु ब्रह्ममें आनन्द गुणधर्मके कारण अपरिच्छिन्न हैं. भगवान्के स्वरूपका वर्णन भी इसीलिए इस प्रकार किया जाता है **''युक्तं भगैः स्वैः इतरत्र च अध्रुवैः''** (भाग.पुरा.२।९।१६). भगवान्में ये सभी गुण एक्वायर्ड् नहीं हैं बाय् डिफाल्ट् हैं तथा इन्टरनल् हैं. ऐश्वर्य इन्टरनल् गुण है लेकिन वही गुण जब ईशीतव्य बनके बाहर प्रकट होता है तो लीला बन जाता है. अतः गुणोंके प्रकट नहीं अपितु अप्रकट होनेके लेवल्पर भी ब्रह्मको ॲब्सल्यूटली निर्गुण नहीं कहा जा सकता है.

अवतीर्णत्व : प्रत्येक अवतारमें उपरोक्त क्रियाएं होती हैं. उन गुणोंको जीवात्मसाधारण चैतन्यके नहीं प्रत्युत ब्रह्मके ही अवतीर्ण रूपमें स्वीकारना होगा.

अर्च्यत्व/सेव्यत्व : उपास्यस्वरूपके भी गुणोंका स्वीकार करना होगा अन्यथा उपासना सम्भव ही नहीं हो पाएगी क्योंकि नवधाभक्तिद्वारा उपासनाके बिना उपास्यमें उद्धारकत्व आदि गुणोंका स्वीकार सम्भव ही नहीं है.

ये सभी गुण जब बाहर प्रकट होते हैं तभी इन्हें 'गुण' कहा जाता है, जब अन्तर्निहित हों तब इन्हीं गुणोंको 'शक्ति' कहा जाता है. आधिदैविक स्वरूपके अन्तर्गत इन गुणोंके प्रत्यक्ष न होने पर भी स्वीकार करना आवश्यक बन जाता है. अतः ब्रह्मको सर्वथा अवाच्य तथा निर्गुण नहीं कहा जा सकता है, इन विविध रूपोंमें लीलार्थ गुणोंका ब्रह्मद्वारा स्वीकार किया जाता होनेसे. उपरोक्त गुणोंके व्यतिरिक्त संज्ञा-संज्ञित्व भी ब्रह्मका एक गुण है.

(१७)

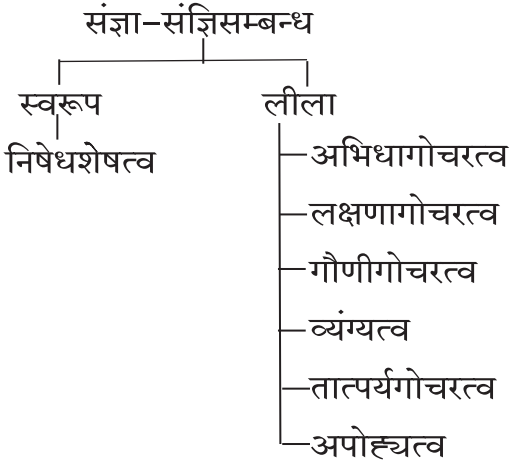

प्रज्ञा(परावाक्)में पश्यन्ती वाक्द्वारा होते इन्टरनल् एफर्ट्के कारण प्रज्ञा ही संज्ञा बन जाती है. अथवा परावाक् जब पश्यन्तीके लेवल्पर इन्ट्रोस्पेक्शन् करती है और बुद्धि उस स्टोई नॉलेज्का सिलेक्शन् करके व्यवहारमें लाती है तब वह 'संज्ञा' बन जाती है. उसी संज्ञाको हम ॲक्स्प्रेशन्के रूपमें कन्वर्ट् करते हैं. ये ॲक्स्प्रेशन् अचेतन व्यवहार होते हैं क्योंकि इच्छा ज्ञानात्मिका होती है पर क्रिया ज्ञानात्मिका नहीं होती. वो ॲक्स्प्रेशन्में ट्रान्स्फॉर्मेशन् मध्यमा वाक्का स्टेन्डर्ड् है तथा क्रिया प्रकट कर देना वैखरी वाक् है. संज्ञाके इन चार लेवल्स्मेंसे ब्रह्मको कौनसे लेवल्पर वाच्य माना जाएगा यह प्रश्न यहां उपस्थित होता है. ब्रह्म स्वरूपकोटि कारणकोटि तथा कार्यकोटि के मल्टिपल् लेवल्सूपर इन सभीके द्वारा वाच्य बन जाता है. वैखरी वाक् ब्रह्मके नाम-रूप-कर्मात्मक एस्पेक्ट्को बोलती है, मध्यमा-पश्यन्ती वाक् ब्रह्मकी कारणकोटिकी वाचक है तथा परा वाक् ब्रह्मकी स्वरूपकोटिके पैरेलल् ही है.

ब्रह्मकी इसी वाच्यवाचकताको इस प्रकार समझाया गया

है: **''यद् वाचा अनभ्युदितं येन वाग् अभ्युद्यते, तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि न इदं यद् इदम् उपासते''** (केनोप.१।४) अर्थात् ब्रह्म वाचाद्वारा अभ्युदित नहीं है, वाचा ब्रह्मद्वारा अभ्युदित होती है क्योंकि ब्रह्म स्वयं ही वाचाद्वारा अपने स्वरूपको प्रकट करनेकी इच्छा करता है, तभी वह स्वरूप श्रुति रूपी ब्रह्मकी परा वाक्द्वारा निरूपित किया जाता है. ध्रुवजी भगवान्की स्तुतिमें इसी बातका निरूपण करते हैं **''यो अन्तः प्रविश्य मम वाचम् इमां प्रसुप्तां, संजीवयति अखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना, अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्, प्राणान् नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्''** (भाग.पुरा.४।९।६) भगवान्के प्रकट होनेपर जब ध्रुवजी वाणीद्वारा कुछ बोल नहीं पाए तब भगवान्की प्रेरणासे उनकी वाणी प्रकट हो कर भगवान्की स्तुति करने लगी कि जो मेरे अन्दर रह कर मेरी वाणी इन्द्रिय आदिको आउटलेट् देनेकी सिस्टम् बनाते है, मेरी सुप्त वाणीको जिन्होंने पुनः जीवित किया है, उनको मैं नमन करता हुं.

अतः ब्रह्म स्वेच्छया विविध स्टेन्डर्डस्पर वाच्य बनता है. जैसे भगवान् स्वयं कहते हैं: **''वेदैः च सर्वैः अहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव च अहम्''** (भग.गीता १५।१५). अतः वाणीके लेवल्स्पर भी ब्रह्मके आधिदैविक स्वरूप इस प्रकार वाच्य बनते है. यथा:

ब्रह्म: परा वाक्द्वारा वाच्य, परमात्मा: पश्यन्ती वाक्द्वारा वाच्य, भगवान्: मध्यमा वाक्द्वारा वाच्य, कृष्ण: वैखरी वाक् द्वारा वाच्य.

वेदस्तुति सुबोधिनी.

''शब्दार्थयोः उत्तमयोः सम्बन्धो यादृशः मतः तं विवेचयितुं कृष्णः श्रुतिगीतं चकार ह'' (सुबो.का.१०।८४।१) अर्थात् वेदरूप शब्द और ब्रह्मरूप अर्थ का वाच्य-वाचक सम्बन्ध जैसा महापुरुषोंने माना है, ऐसा तथा कई अन्य प्रकारके सम्बन्धोंसे पृथक् करनेके लिए

व्यासजीने यह श्रुतिगीता कही है. शब्द और अर्थ की उत्तम-मध्यम-जघन्य ऐसे तीनों कोटि हो सकती है. उत्तम-शब्द और उत्तम-अर्थ के बीच सम्बन्ध प्रकट करनेके लिए ही वेदव्यासने श्रुतिगीता प्रकट की है.

महाप्रभुने इन तीन, जघन्य-मध्यम-उत्तम कोटियोंको सिद्धान्तमुक्तावलीमें भौतिक-आध्यात्मिक-आधिदैविक बताई हैं. गीतामें भी भगवान्ने **''यस्मात् क्षरम् अतीतो अहम् अक्षरादपि च उत्तमः अतो अस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः''** (भग.गीता १५।१८)द्वारा बताई हैं, जहां क्षर=आधिभौतिक अक्षर=आध्यात्मिक तथा पुरुषोत्तम=आधिदैविक हैं. ये तीनों भिन्न स्वरूप न हो कर तीन कोष हैं इसलिए उत्तम-मध्यम-हीन कोटि कहना सब्जॅक्टिव् ॲप्रीसियेशन् है तथा आधिभौतिक-आध्यात्मिक-आधिदैविक कहना ऑब्जेक्टिव् नरेशन् है. सब्जॅक्टिव् ॲप्रीसियेशन् इसलिए है क्योंकि अपने-अपने अधिकारानुसार जीवको उत्तम-मध्यम-कनिष्ठता का बोध होता है किन्तु भौतिक-आध्यात्मिक-आधिदैविक कहनेमें कोई चॉइस् नहीं होनेके कारण ये ऑब्जेक्टिव् नरेशन् है. उसी प्रकारसे शब्द और अर्थ में भी यही सम्भावना रही हुई है जिनमेंसे महाप्रभु उत्तमको चूज़ कर रहे हैं. जैसे लॉजिकल् पॉज़िटिविस्ट्स् जघन्य कॅन्सेप्टच्युली कन्स्ट्रक्टेड् शब्दार्थको उत्तम मानते हैं तथा उत्तम इम्पीरिकली वेरीफायेबल् शब्दार्थको एम्प्टी-कन्सॅप्ट् कह कर निंदा करते हैं. उसी प्रकारसे ब्रह्मवादमें भी ये तीनों कोटि आती हैं, जिन्हें महाप्रभु सुबोधिनीमें इन कारिकाद्वारा बताते हैं **''इदं हि विश्वं भगवान्इव इतरः यतः जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः''** (सुबो.का.१।५।२०)

इदं विश्वं हि भगवान् - उत्तम

इदं विश्वं भगवान् इव नतु भगवान् -मध्यम

इदं विश्वं भगवान् इतर-जघन्य

अत: सब्जॅक्टिव् ॲप्रीसियेशन् तथा ऑब्जेक्टिव् नरेशन् के आधारपर शब्दमें उत्तमादि कोटियोंका विचार किया जाता है. **''प्रमाणं ब्राह्मण: प्रोक्त: प्रमेयमपि वै बृहत् सएव भगवान् कृष्ण: तत: भजनम् ईरितम्''** (सुबो.का.१०।८४।२) अर्थात् ब्राह्मणको प्रमाण कहा है, प्रमेय ब्रह्म है. वह प्रमेय भगवान् कृष्ण ही है, इसलिए इनका ही भजन करना चाहिए, यों कहा है. कृष्ण की ब्रह्मतामें प्रमाण ब्राह्मण (श्रुतदेवजी) है. और ब्राह्मणने प्रमेयका वर्णन बृहत्की तरह किया है. ब्राह्मणद्वारा वर्णित जो पूज्य कृष्ण है उनको ब्रह्मके साथ आइडेन्टिफाय् करनेसे वेदस्तुतिका कन्क्लूजन् भक्तिमें आएगा. क्योंकि भक्तिशास्त्र भागवतके अन्तर्गत आती वेदस्तुति भक्तिपरक भी होनी चाहिए मात्र स्वरूपनिरूपक नहीं. वेदस्तुति स्तुत्यात्मक वादरूप हो या वादात्मक स्तुतिरूप हो किन्तु उसका कल्मिनेशन् **''अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धि: विधीयताम्''** (सि.मु.१२)में आये तो ही भागवतशास्त्रकी भक्तिपरकता सिद्ध हो पाएगी.

''तत्र उपपत्ति: प्रष्टव्या वाच्यवाचकनिर्णये, अत: राजा श्रुतीनां वै निर्णयार्थम् अपृच्छत'' (सुबो.का.१०।८४।३) वाच्य(प्रमेय ब्रह्मके विषयमें)-वाचक के निर्णयका युक्तिसहित हेतु पूछना चाहिए. अत: राजाको प्रमाण कहें इस विषयमें जो शंका है उसका निर्णय पूछते हैं. यदि हम भक्तिपरक निष्कर्ष चाहते हैं तो वहां उपपत्ति पूछनी पड़ेगी कि यदि कैसी स्तुति की जाए जिससे भक्ति उपपन्न हो, तो वाच्य-वाचकका स्वरूप यहां कैसा होगा? अत: राजाने श्रुतिके निर्णयके विषयमें प्रश्न उपस्थित किया है.

''सगुणं चेद् वेदवाक्यं ब्राह्मणा: तत्र च स्थिता: तत: अत्र भगवानेव पूज्य: न अन्य: कथञ्चन'' (सुबो.का.१०।८४।४). इस कारिकामें निर्णय करनेका प्रयोजन कहते हैं कि वेदोंके वाक्य यदि यह प्रतिपादन करते है कि ब्रह्म अनन्त गुणवाला है और

ब्राह्मण उसमें ही स्थित है, अर्थात् सर्व प्रकारसे उसका ही ध्यान आदि करते है, तो वह भगवान् ही पूज्य है अन्य कोई नहीं. ब्रह्मको जो जानता है उसे ब्राह्मण कहा जाता है. तथा ब्राह्मणकी अन्डर्स्टेन्डिंग्को रिवील् करनेवाली शब्दराशि है. उस वेद रूपी शब्दराशिसे जुड़ी वाच्यताके बारेमें यहां पूर्वपक्ष है. क्योंकि ब्राह्मण कह रहा है कि कृष्ण पूज्य है, इस वाक्यसे कृष्णका ब्रह्मत्व सिद्ध है. किन्तु यदि ब्रह्म शब्द स्वयं यह कहता हो कि जाति-आकृति आदि जो शब्दके अर्थ हो रहे हैं उन अर्थोंको ब्रह्म धारण नहीं कर सकता है तो ब्रह्म शब्दका वाच्य कृष्ण कैसे बनेगा! श्रीमध्वाचार्य इस प्रश्नका उत्तर देते हुए कहते हैं कि प्रत्येक शब्दका अर्थ क्योंकि विष्णु ही है, अतः यह प्रश्न ही अप्रासंगिक है कि शब्दका वाच्य ब्रह्म है या नहीं क्योंकि स्वाभाविकवृत्तिसे तो प्रत्येक शब्दका अर्थ ब्रह्म ही होता है, मात्र संकुचितवृत्तिसे उन शब्दोंके अन्य-अन्य अर्थ होते हैं. महाप्रभुने इसी कन्सॅप्ट्को डॅवलप् किया है. महाप्रभु आज्ञा करते हैं कि प्रत्येक शब्दका अर्थ सत् है. अतः जो सत् है उस रूपके करस्पॉन्डिंग् नाम आ रहे हैं. 'सत्'का वाचक होना एक्सिस्टेंशियल् प्रिसपोज़िशन् है. अतः ब्रह्मके तिरोधानशक्ति वश सदंश तथा चिदंश में नाम-रूपका विधान हो रहा है.

''मतान्तरोक्तिः एषा हि सिद्धान्ते वैदिके तथा, अनन्तगुणपूर्णो हि हरिः ब्रह्म श्रुतिः तथा, त्रयम् एकं स्वशक्तिं हि त्रेधा स्वस्मिन् निधाय हि फल-प्रमेय-मानत्वं सच्चिदानन्दतां गतम्'' (सुबो.का.१०।८४।५-६) यह अन्यमतानुसार उक्ति है, किन्तु वैदिक सिद्धान्तमें भी मान्य की गई है, जैसे कि अनन्त गुणोंसे पूर्ण हरि ब्रह्म और श्रुति ये तीनों एक ही हैं. वास्तवमें अपनी शक्तिको तीन प्रकारसे विभाजित करके फिर उनको अपने भीतर ही धारण कर प्रभु

फल प्रमेय प्रमाण; तथा, आनन्द, चित् तथा सत् रूप बनते हैं. उपरोक्त पूर्वपक्षके अनुसार वेद पढ़े हुए ब्राह्मणद्वारा कही गई बात प्रमाणरूप माननेपर वेदद्वारा कथित ब्रह्मकी निर्गुणताके ऊपर शंका उठ रही है. यदि वेद स्वयं ब्रह्मकी वाचकताका निषेध करता हो तो ब्राह्मणकी बातको कैसे स्वीकारा जा सकता है? क्योंकि ब्राह्मणका कृष्णको पूज्य मानना तो उनकी तरफसे होता सब्जॅक्टिव् ॲप्रीसीयेशन् भी हो सकता है. अत: इसी शंकाके निराकरणके प्रतिपादनार्थ वेदस्तुतिमें इसी सिद्धान्तका ऑब्जेक्टिव् नरेशन् किया गया है ताकि ब्राह्मणद्वारा कही गई बात सिद्ध हो पाए.

अत: महाप्रभु यहां सिद्धान्त बता रहे हैं कि हरि-ब्रह्म-श्रुति तीनों एक हैं तथा तीनों लेवल्स्में अनन्तगुणपूर्ण है:

हरि : फल=आनन्द
ब्रह्म : प्रमेय=चित्
श्रुति : प्रमाण=सत्

इन तीनोंके निरूपणद्वारा महाप्रभुने तीनों लेवल्स्के उत्तम स्टेन्डर्ड् बताए है. यहां शब्द और अर्थ दोनों लेवल्स्में हीन तथा मध्यम, शब्द तथा अर्थ की भी पॉसिब्लिटीज़् रही हुई हैं. जैसे श्रीशंकराचार्यने उत्तम प्रमाणरूप श्रुतिके वाक्य **''इन्द्रो मायाभि: पुरुरूप: ईयते''** (बृह.उप.२।५।१९) वचनमें मायाके उत्तम अर्थ प्रज्ञाको छोड़ कर हीन अर्थ अज्ञान लिया है. वैदिक सिद्धान्तानुसार महाप्रभुने उत्तम शब्द तथा उत्तम अर्थ चूज़ किया है. **''तथापि साङ्ख्यसिद्धांते तथा तदुपजीवके वैष्णवे अन्यत्र वा वाच्यं श्रुतिसंग्रहणं यथा अष्टत्रिंशे श्रुतीनां हि यथा वाच्यं बृहद् भवेत् तदर्थं पूर्वपक्षादिसिद्धान्तफलम् ईर्यते''** (सुबो.का.१०।८४।७-८). यों होते हुए भी सांख्य सिद्धान्तानुसार एवम् उनके ऊपर आधार रखनेवाले वैष्णव सिद्धान्तानुसार अथवा

अन्यत्र मुख्या भक्तिके सिद्धान्तानुसार श्रुतियोंका अर्थ वैसा ही किया जाता है. उत्तरार्धके इस अध्यायमें श्रुतियोंद्वारा जैसे ब्रह्मका विधान हो सके, तदर्थ इसके आरम्भमें पूर्वपक्ष आदि सिद्धान्त कहा है एवं फल भी कहनेमें आया है. महाप्रभु आज्ञा कर रहे हैं कि सांख्यद्वारा प्रतिपादित प्रोसेस् तथा उपनिषद्द्वारा प्रतिपादित प्रोसेस ऑपोज़िट् हैं. सांख्यकी प्रोसेस् एनालिटिक् है, जिसमें यूनिटीसे मल्टिप्लिसिटी बताई गई है. उपनिषद्की प्रोसेस्में मल्टिप्लिसिटीका कन्क्लूज़न् यूनिटीमें बताया गया है. जैसे सांख्यमें अव्यक्त प्रकृतिका कार्य-कारणमें डिविज़न् बता कर (प्रकृतिअविकृति, प्रकृतिविकृति तथा विकृति) से पर पुरुष; ऐसी चार कोटियोंको बता कर यूनिटीको मल्टिप्लाय् करनेकी प्रोसेस् बताई गई है.

उपनिषद् जैसे "**तस्माद् वा एतस्माद् अन्नरसमयाद् अन्योन्तर आत्मा प्राणमयः तेन एषः पूर्णः सः वा एषः पुरुषविधएव**", "**अन्नं 'ब्रह्म'इति व्यजानात्**" (तैत्ति.उप.२।२,३।२). इस श्रुतिवचनमें सभी पुरुषोंको अन्नमय बता कर यूनिफाइड् कन्सॅप्ट् बताया गया है. सांख्यद्वारा प्रतिपादित सिस्टम् तथा उपनिषद्की सिस्टम्को सिन्क्रोनाइज़् करनेके लिए ज्ञान और अर्थ की एकतामें ज्ञानका अविकृतपरिणाम हो कर ज्ञान ही अर्थके रूपमें प्रकट हो गया. परावाक् रूपी ज्ञानमें नाम-रूप-कर्म स्टोई थे, पश्यन्तीके लेवल्पर उस ब्रह्मने कुछ नाम-रूपोंको बाहर प्रकट किया तब प्रकृति रूप बन गई तथा उन रूपोंका नाम रूप ज्ञान पुनः हो गया. अतः ज्ञान-अर्थके बीच इस प्रकारका वाच्य-वाचकभाव बना जो कि परीक्षितद्वारा उपस्थित पूर्वपक्षका सैद्धान्तिक उत्तर है कि वाणीरूप श्रुति तथा ब्रह्म दोनों एक ही होनेसे ब्रह्म स्वेच्छया प्रकटित अपने गुणधर्मोंद्वारा वाच्य बनता है.

महाप्रभुके सिद्धान्तके अनुसार ब्रह्मवाद केवल फिलॉसॉफी

नहीं, अपितु दर्शन है. 'फिलॉसॉफी' शब्दका तात्पर्य है, विद्यासे प्रेम होना. अपने सिद्धान्तके अनुसार विद्या भगवान्‌की शक्ति होनेसे, विद्याद्वारा भगवत्प्रेम सिद्ध करना लक्ष्य है. दर्शनसे तात्पर्य है जिससे तथ्य दिखाई दे. महाप्रभुके सिद्धान्तके अनुसार ब्रह्मवाद जम्पिंग पेड् है. यदि ब्रह्मवादको भक्त्यर्थ न माना जाए, तो उसमें मायावादका प्रवेश येन-केन प्रकारसे हो ही जाता है. श्रीशंकराचार्यद्वारा प्रतिपादित महावाक्योंके श्रवणसे होता ब्रह्मज्ञान योग्यतासंपन्न प्रमाताकी अनुभूतिपरक है. किन्तु महाप्रभुके अनुसार ब्रह्मवाद भक्तिमें कल्मिनेट् होना चाहिए, मात्र अनुभूतिमें नहीं. श्रीशंकराचार्यके अनुसार दैहिक-लौकिक अनुभूतियोंके भ्रमकी निवृत्ति ''अहं ब्रह्मास्मि''के ज्ञानद्वारा होती है. किन्तु ''अहं ब्रह्मास्मि'' इत्याकारक ज्ञान भी भ्रमात्मक ही है, प्रमात्मक नहीं है. आविद्यक अहमाकारवृत्तिसे उपरंजित होनेके कारण अतः उसके भी नष्ट हो जानेपर शुद्ध-निर्गुण-निर्धर्मक ब्रह्मानुभव ही फल है.

महाप्रभुके अनुसार वेदान्तविचारका प्रयोजन ब्रह्म ज्ञेय है कि नहीं, ये न हो कर माहात्म्यज्ञानपरक अर्थ प्रकट करना है. ब्रह्मज्ञानद्वारा होता बोध साक्षात्कार-पर्यवसायी न हो कर भक्त्युपयोगी माहात्म्यज्ञानकी अपेक्षाकी पूर्ति करेगा, जिससे भक्ति प्रकट होगी. यदि जीवमें भगवान्‌द्वारा स्थापित भक्तिका बीज होगा, तो माहात्म्यज्ञानकी पूर्ति होनेपर भक्ति प्रकट हो जायेगी तथा उसी भक्तिके प्रभाववश भक्तवश्यता भगवान्‌में प्रकट होती है. अतः महाप्रभुके मतके अनुसार ब्रह्मवाद अनुभवपर्यवसायी नहीं, अध्यवसाय पर्यवसायी है. बुद्धि जब एक्टिवेट् होती है, तब अध्यवसाय होता है.

फलरूपा परा पुष्टिः स्वरूपगुणभेदतः।
भक्तिप्रदो जीवलोके प्रादुर्भवति वै यदा॥

सेवायां वा कथायां वासक्तो जीवस्तदा भवेत्।
भजनीयतया भावो बहिराविर्भवेत्तदा॥
बाह्याभ्यन्तरभेदेनोभयत्रैवानुभूयते।
भगवान् तद्भेदरहितः फलावस्थेयमीरिता॥
सेवात्मकं बाह्यभानं तल्लीलानुभवात्मकम्।
आन्तरन्तु फलं प्रोक्तं मज्जोन्मज्जनात्मकम्॥
लीलार्णवे परमानन्दस्वरूपानन्दरूपिणि।
भगवान् षडंघ्रिरूपोऽयं भक्तहृत्पद्मकोशगः॥
निश्चलः प्रेमबद्धोऽतः भक्तवश्यः समीरितः।
षडंघ्रिपद्मप्रेम्णो वै यथा वार्ता सुभाषिते॥
बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि
प्रेमरज्जुकृतबन्धनमन्यद्॥
दारुभेदनिपुणोऽपि षडंघ्रि
निष्क्रियो भवति पंकजकोशे॥

(भक्तवश्यत्वनिरूपणम्.६-१२)

भगवान् भक्तके ऊपर कृपाशील हो कर भक्तके हृदयमें भावतया बिराजते हैं, तथा बाहर भजनीयतया बिराजते हैं. "**सः इममेव आत्मानं द्वेधा अपातयत्**" (बृह.उप.१।४।३) वचनके अनुसार भगवान् स्वयंको स्वरूप एवं गुण के भेदसे दो रूपमें भक्तके लिए प्रकट करते हैं. परिच्छिन्न होनेके कारण जीव(को) बाह्याभ्यन्तर भेद बरतना पड़ता है, किन्तु भगवान् बाह्याभ्यन्तर-भेदरहित होनेके कारण प्रमात्मक हैं, भ्रमात्मक नहीं. स्वरुचिके अनुसार वस्त्र-शृंगार-पिछवाई आदि द्वारा हम आर्टिफीश्यली भगवान्को रसभावात्मक बनाते हैं परन्तु वही जब नेचरली होने लग जाता है, तो उसे ही भगवान्का 'सानुभाव' कहा जाता है. हमारे अंदर जब-तक वो ट्रान्सपेरन्सी नहीं आ जाती, तब-तक भगवान्का

बाह्याभ्यन्तर प्राकट्य नहीं हो पाता. अर्थात् भजनीयतया वे बाहर प्रकट हो कर बिराजते हैं, किन्तु भावात्मक आन्तर प्राकट्य साधनावस्थामें नहीं हो पाता है.

मानसी-सर्वात्मभाव-व्यसनादि अवस्थाओंमें भगवान्का आन्तर प्राकट्य भी हो जानेसे बाह्य एवं आन्तरस्थिति का भेद ही नष्ट हो जाता है. ऐसी ट्रान्सेपरन्सीके डेवेलप् हो जानेपर संन्यासनिर्णयमें जैसे महाप्रभु आज्ञा करते हैं, **''बहिश्चेत् प्रकटः स्वात्मा वह्निवत् प्रविशेद् यदि तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न च अन्यथा''** (सं.नि.११) अर्थात् जैसे अयोगोलकमें वह्निके प्रविष्ट हो जानेपर दोनों एकाकार हो जाते हैं, उसी प्रकार जीवके हृदयमें बहिःप्रकट भगवान्के अन्तःप्रविष्ट हो जानेपर दोनों एकाकार हो जाते हैं. सेवात्मक जो बाह्यभान है वह भगवान्की लीलाका अनुभवात्मक भान है तथा जो आन्तरफल है, वह भगवान्की परमानन्दस्वरूप लीलाके समुद्रमें मज्जोन्मज्जनात्मक स्थायिभाव बन जाता है. जब भक्तका ऐसा उत्तम भाव हो, तब भक्तके निश्चल प्रेमसे बद्ध हो कर भगवान् जैसे भंवरा काष्ठमें भी छेद करके निकल जानेकी क्षमता रखता होनेपर भी सूर्यास्तके बाद कमलके अंदर बद्ध हो जानेपर जैसे निकल नहीं पाता, उसी प्रकार भगवान् भी भक्तके वश हो जाते हैं. भगवान्की ऐसी भक्तवश्यता माहात्म्यज्ञानसे प्रकट हो कर सुदृढ़ निश्चल स्नेहके कारण ही प्रकट होती है, अन्य किसी भी प्रयोजनसे नहीं.

वेदस्तुतिकी सिनोप्सिस

महाप्रभु वेदस्तुतिके निरूपणप्रसंगमें आज्ञा करते हैं—

''शुकोऽपि श्रुतिगीताप्रतिपाद्यम् अर्थं पुनः स्वयं संक्षेपेण आह प्रतिपत्तिसौकर्याय. माहात्म्यं ज्ञात्वा भगवन्तं भजेद् इति अर्थद्वयम्. श्रुतिगीतार्थः— माहात्म्यं भजनं चेति. तत्र

भजनप्रतिपादिकाः सर्वा एकीकृत्य आह ध्यायेद् अजस्रमिति, अन्तर्भगवन्तं स्थापयित्वा तत्र सेवां कुर्याद् इति अर्थः. तस्य फलत्वाय आह अजस्रं सुखरूपं सर्वदुःखहर्तारं च इति. तत्र भगवतो माहात्म्यं गुणरूपं दोषाभावरूपं च.... एवं निर्दोषपूर्णगुणरूपो भगवानिति स्वतएव परमानन्दं प्रयच्छति दुःखं च दूरीकरोति इति तमेव सर्वोऽपि भजेद् इति अर्थः''

(सुबो.१०।८४।५०)

अर्थात् श्रुतियोंने भगवान्की जो स्तुति की, उसी वृत्तान्तका निरूपण शुकदेवजी सरलतासे करना चाह रहे हैं, कि जिससे श्रुतिनिरूपित अर्थ जीवोंको सरलतासे बुद्धिगम्य हो जाये. वेदस्तुतिका अन्ततः तात्पर्य है भगवान्के माहात्म्यको जान कर भगवान्की भक्ति करनी. ''**ध्यायेद् अजस्रं..**''से ले कर जितनी भी भजनप्रतिपादिका श्रुति हैं, उनका तात्पर्य यही है कि भगवान्की भक्ति करनी चाहिए. अन्य विचारकोंने जीवको होते दुःखके कारणतया वासना अविद्या अज्ञान कर्म आदि अनेक कारणोंका विचार किया है तथा तदनुसार ही दुःखनिवृत्तिके उपायके रूपमें भी तत्तद् साधनोंका निरूपण किया है. किन्तु महाप्रभुके मतानुसार भक्तके दुःखकी निवृत्ति अन्य उपायोंसे न हो कर भगवत्सेवा-भगवत्प्राप्तिसे ही सम्भव है. भक्तके लिए अन्य सभी दुःख-सुख सबोर्डिनेट् है. निर्दोषपूर्णगुणवान् भगवान् स्वयं ही भक्तको परमानन्दका दान करते हुए, उन्हें दुःखसे निवृत्त करेंगे. महाप्रभु आज्ञा करते हैं कि ये केवल मेरा मत नहीं है, अपितु शुकदेवजीका भी यही अभिप्राय है. महाप्रभुकी इसी आज्ञाके कोरस्पोंडिंग् पुष्टिभक्तोंके भीतर ब्रह्मवादका मूड् होना चाहिए.

दशमस्कन्ध अन्तर्गत वेदस्तुति निर्गुणप्रकरण अन्तर्गत आती है. महाप्रभु आज्ञा करते हैं ''**चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च त्रिभिस्तथा,**

षड्भिः विराजते योऽसौ पञ्चधा हृदये मम'' (सुबो.१०।१।०।२) तामसप्रकरणसे आरम्भ करते हुए राजस एवं सात्त्विक प्रकरणके बाद दशमस्कन्धके ६ अध्याय गुणप्रकरण अन्तर्गत आते हैं. ब्रह्मवादको जब हम भक्तिके प्रयोजकतया स्वीकारते हैं, तब अधिकार एवं अवस्थाके अनुसार ब्रह्मवादका उपयोग समझना आवश्यक है. सदुपदेश भी सदधिकारीको प्राप्त हो, तभी सदाचरणमें परिणत होता है. यदि वही सदुपदेश असदधिकारीको प्राप्त हो जाए, तो असदाचरणमें ही परिणत होता है. अत: तामसावस्थाकी निवृत्तिके बाद, सात्त्विकताके प्राप्त हो जानेके बाद यदि निर्गुण अवस्थामें ब्रह्मवादका बोध हो तो अवश्य ही फलोन्मुख बन पाता है. सगुणता एवं निर्गुणता के अनेक पक्ष हैं.

(१८)

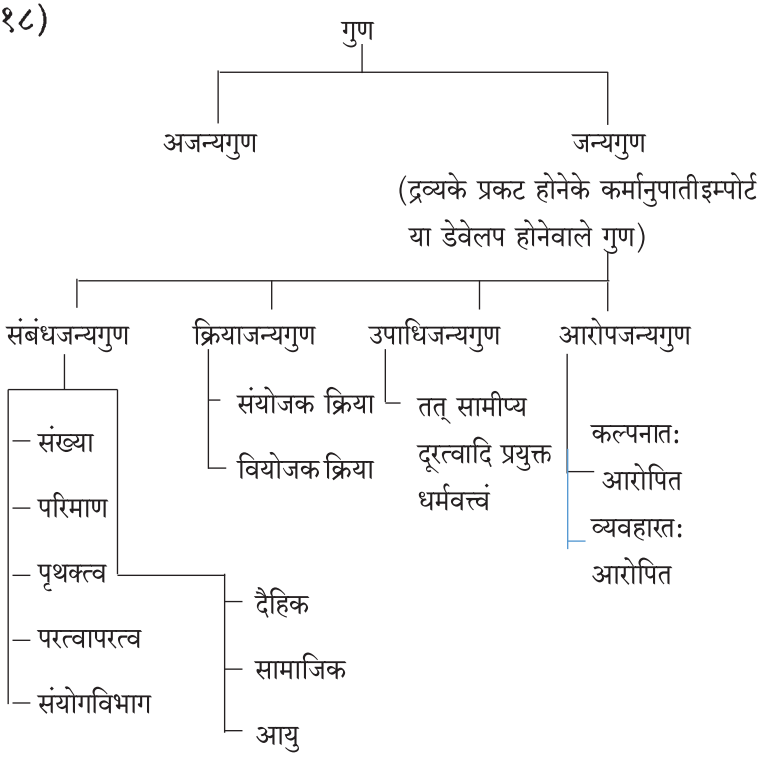

(१९)

निर्गुणता

- जन्यगुणराहित्य
- प्राकृतगुणराहित्य
- भौतिकगुणराहित्य
- अभौतिकगुणराहित्य
- आधिदैविकगुणराहित्य

उपरोक्त सभी परिप्रेक्ष्योंमें सगुणता एवं निर्गुणता का विचार अपेक्षित है. वेदस्तुतिको जब निर्गुणप्रकरणमें प्लेस् कर रहे हैं, तो उसका तात्पर्य है सात्त्विक-राजस-तामस नहीं होना तथा ऐश्वर्यादि अजन्य स्वाभाविक षड्गुणोंसे सम्पन्न होना. ब्रह्मवाद भगवान्का यश है, तथा भगवान्के ऐसे यशका गान करनेसे हृदयमें भगवान्के प्रति स्नेह प्रकट होता है. यशोगान behavioral quotient है तथा स्नेह emotional quotient है. जैसे नवधा भक्तिके व्यवहारसे हृदयमें स्नेह प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मजिज्ञासाके द्वारा होते intellectual quotientमाहात्म्यज्ञानयुक्त यशोगानसे भक्तके हृदयमें स्नेह प्रकट हो जाता है.

श्रीगोष्ठीशालोपनाम-रामचन्द्रभट्टात्मज घनश्यामभट्टकृता सूचिका

तृतीये श्रुतिगीतायां यशः स्फुटमेव....अग्रे तस्माद् युक्तेन्द्रियग्राम इत्यादिना आत्माधिकरणक जगदीक्षणनिरूपणेन भेदस्य निराकृतत्वात् तन्नाशो निरूपितः. अत्र तत्त्वातिक्रमे क्रमो न विवक्षितः इति यस्मिन् यस्मिन् अध्याये यस्य

यस्य तत्त्वस्य नाशः प्रतीयते तस्मिन् तस्मिन् अध्याये तत्-तत् तत्त्वातिक्रमएव अध्यायार्थो वाच्यः

श्रीगोकुलरायोकृतो अध्यायार्थः

निरोधकर्तुः कृष्णस्य परत्वभगवत्त्वज्ञापकगुणप्रकरणे पूर्वसृष्टं सर्वम् आपीय सुप्तस्य सर्वतत्त्वरूपस्य भगवतः शयनान्ते प्रबोधसमये तत्त्वनिरूपणप्रकारेण अष्टाविंशतिविधानां वेदानां ब्रह्मपरत्वनिर्णयार्थं तत्-तत्प्रकरणसन्देहनिवारकैः वाक्यशेषरूपैः अष्टाविंशतिवेदवाक्यैरेव स्तुत्या प्रबोधने लौकिकयुक्त्यगोचरस्य अलौकिकस्य कर्तृत्वादिरूपस्य यशसो निरूपणाद् यशोनिरूपणं चतुरशीतितमे अध्याये.

वेदस्तुतिके अध्यायोंके अर्थका निरूपण इस तरह करते हैं कि वेदस्तुतिके द्वारा भगवान्का यशगुणधर्म प्रकट होता है. सृष्टि भगवान्ने अपने ऐश्वर्यादिगुणोंके कोरस्पोंडिंग् प्रकट की है. भगवान्के सब गुण निरालंबित हो जायेंगे, यदि सृष्टि प्रकट नहीं होगी तो. भगवान्के ऐश्वर्यादिगुणोंका आलम्बन सृष्टिमें प्रकट होता है. जब स्वेच्छया भगवान् अपनी सभी शक्तियोंके साथ शयन करते हैं, तब भगवान्के श्रीअंगमें सभी तत्त्व सुषुप्त अवस्था (इन्ऑपरेटिव्नेस् अथवा इनर्शिया)को प्राप्त करते हैं. योगिक सुषुप्तिमें सभी तत्त्व भगवान्में हैं, तथा सृष्टिके प्रकट होनेपर सभी तत्त्व ब्रह्मरूप हो जाते हैं. यहां शंका उत्पन्न होती है कि यदि सभी तत्त्वरूप भगवान् ही हैं तथा ऐसा होनेपर सृष्टि भी भगवद्रूप है, तो प्रपंचविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिकी निरोधकी व्याख्याके अनुसार वैराग्यकी आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी. ब्रह्मकी टोटालिटीमें वैराग्यगुण निर्विषय बन जायेगा. महाप्रभु विरुद्धधर्माश्रय ब्रह्मकी परिच्छिन्नतामें प्रपंचको भगवद्रूप बताते हुए भी प्रपंचरूप विशिष्ट भगवान्में आसक्त्यर्थ वैराग्यका उपदेश भी कर रहे हैं. ब्रह्मकी टोटालिटीके ग्राउन्ड्में

ही दोनों सिद्धान्त सिद्ध हो जाते हैं. महाप्रभु आज्ञा करते हैं कि सभी तत्त्व भगवान्में तिरोहित हो गए हैं, ऐसे समयमें श्रुति भगवान्का प्रबोधन करती है, तथा **''अष्टाविंशति तत्त्वानां स्वरूपं यत्र वै हरिः''** (त.दी.नि.१।९३) सिद्धान्तके अनुसार भगवद्रूप २८ तत्त्वोंके निरूपणार्थ २८ श्लोकोंद्वारा भगवान्का प्रबोधन करती है. इन सभी तत्त्वोंका आलम्बन प्राप्त हो रहा है तथा उस आलम्बनको भगवान् अपनेमें प्रकट कर रहे हैं. अर्थात् सृष्टिघटक तत्त्व ब्रह्मार्णवमें मोतियोंके तरह प्रमेयात्मक डूबे हुवे थे उन्हें प्रमाणरूप श्रुति गोताखोरकी तरह निकालके बाहर करती है.

उपरोक्त निरूपणमें शंका प्रकट होती है कि यदि संपूर्ण वेद २८ तत्त्वोंका निरूपण करता है, तो उनमें ब्रह्मका निरूपण कहां हुआ? महाप्रभु आज्ञा करते हैं कि वेदकी वाणीका कर्म २८ तत्त्व हैं, किन्तु वाणीका प्रयोजन ब्रह्म है. २८ तत्त्वोंके निरूपणद्वारा ब्रह्मके यशको उजागर करना श्रुतियोंका तात्पर्य है. मायावादके स्वीकारमें आपत्ति यही है कि पदार्थोंको मायाजन्य मानलेनेसे ईक्षणद्वारा प्रकट सृष्टिके अलौकिक कर्ता-कारणके रूपमें भगवान्का यश ही खंडित हो जाता है. अतः ब्रह्मवादके निरूपणद्वारा वेदस्तुतिमें भगवान्के नित्य यशका गान किया जा रहा है. जैसे भागवतके उपसंहारमें सभी कथाओंका निरूपण अन्ततः भगवान्के माहात्म्यपरक होनेके तात्पर्यसे कहा जा रहा है. **''कथा इमास्ते कथिता महीयसां विताय लोकेषु यशः परेयुषां, विज्ञानवैराग्यविवक्षया विभो वचोविभूतिः नतु पारमार्थ्यम्''** (भाग.पुरा.१२।३।१४) भागवतकारका तात्पर्य है कि चक्रवर्ती राजा, विराट-स्वराट आदिकी जो भी कथाओंका निरूपण किया गया, वे सभी अंततः परलोकको प्राप्त हुए. उनके बारेमें जो कुछ भी कहा गया, वो वाग्वैभव मात्र ही है, वैराग्यविज्ञानकी विवक्षासे ही उनका वर्णन किया गया

है. अर्थात् जन्यगुणरूप नाशवंत यश लोकमें है, किन्तु अजन्य स्वाभाविक यश भगवान्का है, जिसका निरूपण वेदस्तुतिद्वारा किया जा रहा है. लोकमें वैराग्य प्रकट हो जाए तथा भगवान्का माहात्म्य प्रकट हो जाए, उस हेतुसे ही भगवान्के अलौकिक कर्तृत्वका निरूपण किया गया है. महाप्रभु वेदस्तुतिके विषयका तात्पर्यका निरूपण करते हुए कहते हैं-

श्रुतिगीता यशः प्राह सर्वसन्देहवारिका॥
लौकिकं चेद् युक्तिसिद्धं कर्तृत्वादि भवेद्धरेः।
अलौकिकस्य करणाद् यशोजातम् अलौकिकम्॥
अष्टाविंशतितत्त्वानि यथारूपे हरीच्छया॥
तथैव नाम्नि यशसि तावत्यः श्रुतयो मताः॥
तस्मात् सन्देहनिर्धारो मनसश्च निवेशनम्॥
निर्गुणे भगवद्रूपे वेदैरेव इति निश्चयः॥

(त.दी.नि.३।१०।४४९-४५२)

अर्थात् श्रुतिगीता सर्वसन्देहवारिका है तथा सम्पूर्ण स्तुतिका तात्पर्य भगवान्के यशके निरूपणद्वारा भगवान्में स्थिर भक्तिकी प्राप्ति करवाना है. श्रुतिगीता निरूपित विषय लोजिकल् न हो कर, वर्बल कन्सेप्ट् है, अतः युक्तिसिद्ध नहीं है. करणके अलौकिक होनेसे यश भी अलौकिक है. लौकिकगुणरहित भगवद्रूपमें मनका निवेश करना ही सभी वेदवाक्योंका तात्पर्य है. ये वेदस्तुतिका pre-supposition है, तथा इसी मूड्में संपूर्ण विषयका अर्थ-तात्पर्य जानना है.

पुरुषोत्तमसहस्रनाम निरूपित नामसंगति

महाप्रभु वेदस्तुति अन्तर्गत निरूपित भगवान्के स्वरूपका निरूपण करते हुए पुरुषोत्तमसहस्रनाममें आज्ञा करते हैं "**सर्वश्रुतिनिरूपितः**"

(पु.ना.स.२३२) अर्थात् सभी श्रुतियोंके द्वारा निरूपित हैं भगवान्.

श्रीशंकराचार्य के अनुसार सर्वश्रुतिनिरूपितका तात्पर्य है कि सभी श्रुतियां प्रसक्त-प्रतिषेधन्यायसे (अध्यारोप - अपवादन्यायसे) ब्रह्मकी प्रतिपादिका हैं. अर्थात् श्रुतिवचनोंमें सर्वप्रथम सृष्टिकी उत्पत्ति आदिका निरूपण करके भगवान्के कर्तृत्वका निरूपण किया जाता है, तदुपरांत **''न इह नाना अस्ति किञ्चन''** (कठोप.२।१।११) वचनोंसे द्वैतभावका निषेध करते हुए निर्गुण ब्रह्मका निरूपण किया जाता है. श्रीशंकराचार्यके अनुसार २८ तत्त्वोंका जो निरूपण श्रुतिवचनोंमें किया गया, उन श्रुतिवचनोंसे जन्य शाब्दबोधमें जिस शब्दमें जो अर्थ बतानेकी शक्ति है, उससे ब्रह्म वाच्य नहीं होता है ब्रह्मके अनिर्वचनीय होनेसे. इन सभी शब्दोंका प्रमेय ब्रह्म नहीं है; इनका तात्पर्य केवल ब्रह्ममें इनके नेगेशन्में है, अर्थात् निषेधवृत्तिसे ही वाच्य बनता है.

श्रीरामानुजाचार्य के मतानुसार सभी श्रुति ब्रह्मके शरीरकी निरूपक हैं किन्तु लक्षित शरीरी हो रहा है. अर्थात् शरीरकी निरूपिका कुछ श्रुतिलक्षण वचन हैं, तथा कुछ श्रुतिवचन साक्षात् स्वरूपकी निरूपिका हैं. जहद्-अजहद्लक्षणाकी शैलीसे ये सोचा गया है. जैसे ''छत्रिणो यान्ति''में छत्रि एवं छत्रिधारी पुरुष मुख्यतया लक्षित होते हुए भी छत्रिके अर्थका त्याग नहीं किया जा रहा, उसी प्रकार ब्रह्मांड रूपी चिद्-अचित् शरीरसे लक्षित यद्यपि शरीरी ब्रह्म हो रहा है, तथापि शरीरके अर्थका त्याग नहीं किया जाता होनेसे श्रुतियोंका निरूपण कन्सेप्च्युअल् एवं पर्सेप्च्युअल् दोनों ही शरीरके लिए किया जा रहा है.

श्रीमध्वाचार्य के अनुसार प्रत्येक शब्दकी एक महावृत्ति होती है तथा संकुचितवृत्ति भी होती है. महावृत्तिसे प्रत्येक शब्दका

अर्थ विष्णु है तथा संकुचितवृत्तिसे तत्तद् शब्दोंसे तत्तद् लौकिक पदार्थ होते हैं.

महाप्रभु यद्यपि श्रीमध्वाचार्यद्वारा निरूपित मॉडल्का स्वीकार कर रहे हैं, तथापि उपरोक्त प्रकारसे अर्थका विचार करनेपर यह विषय शुद्धरूपसे ॲपिस्टेमोलोजिकल् न रह जा कर थियोलोजिकल् बन जाता है. महाप्रभु उपरोक्त मोडल्का स्वीकार करते हुए दूसरा भी एक विकल्प प्रस्तुत करते हैं श्रुतिनिरूपितताका. प्रत्यक्ष ज्ञानके तीन स्टेप्स् होते हैं

(१)सेन्सेशन् (२)पर्सेप्शन् (३)रॅकोग्निशन्

(१) महाप्रभुके अनुसार सर्वप्रथम वस्तुसत्ताका ज्ञान होता है तथा प्रत्येक वस्तुसत्ता ब्रह्मका सदंश ही होनेसे वस्तुसत्ताका ज्ञान ब्रह्मके ही सत्का ज्ञान है.

(२) तदुपरांत वस्तुसत्ताका निरूपण करेंगे तब रूपको डिस्क्राइब् करना होगा.

(३) तीसरे स्टेपूपर पहोंच कर वस्तुका नाम स्फुरित होता है, जिससे प्रत्यक्ष होता है. ये ॲपिस्टेमोलोजिकल् प्रोसेस् है, जिसमें नामका बोध अंतिम चरण है ज्ञान का. महाप्रभु आज्ञा करते हैं कि **''सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वा अभिवदन् यद् आस्ते''** (तैत्ति.आर.३।१२।७) वचनानुसार सभी नाम-रूप ब्रह्मके ही धारण किये हुए होनेसे उन सभी नाम-रूपोंसे अन्ततः ब्रह्म ही वाच्य बनेंगे. शब्द एवं अर्थबोध की प्रक्रियामें दो प्रकार होते हैं : सब्जॅक्टिव् इन्टेन्ट् तथा ऑब्जॅक्टिव् इन्टेन्ट्. शब्दप्रयोगके प्रति वक्ताका जो विशेष तात्पर्य होता है, वह सब्जॅक्टिव् इन्टेन्ट् है तथा शब्दका मूल रूढार्थ उसका ऑब्जॅक्टिव् इन्टेन्ट् हुआ. महाप्रभुने उपरोक्त दोनों ही प्रक्रियाओंका स्वीकार श्रुतिनिरूपित शब्दोंमें

किया है. क्योंकि ब्रह्मने स्वयं ही अपने नामोंका डिस्ट्रिब्यूशन् तत्तद् रूपोंमें किया है. अत: सब्जॅक्टिव् इन्टेन्ट् एवं ऑब्जॅक्टिव् इन्टेन्ट्, दोनों ही प्रक्रियाओंको जस्टिफाइ जीवने नहीं, अपितु भगवान्ने ही किया होनेसे ब्रह्म ही सभी श्रुतियोंसे निरूपित हैं. अर्थबोधकी प्राइमॉर्डियल्, सेकन्डरी एवं फुल-फ्लेज् यूसेज् की तीनों ही अवस्थाओंमें भगवान् ही सभी शब्दोंके अर्थ बनते हैं.

त्रिविधलीलानामावली निरूपित नामसंगति

महाप्रभु वेदस्तुति निरूपित लीलाके अनुसार त्रिविधलीलानामावलीमें प्रभुके नामका निरूपण करते हैं "**अखिल-निगम-निजजन-संस्तुताय नम:**" (त्रि.ना.रा.ली.१०७) अर्थात् निगम-वेद रूपी निजजनोंसे संस्तुत हैं भगवान्.

श्रुतिवचनोंके आधिदैविकरूप भी हैं. वेदस्तुतिमें आधिदैविक शब्द अर्थको जगा रहा है. प्रलयके बाद भगवान् जब "**स्वसृष्टम् इदम् आपीय शयानं सह शक्तिभि:**" (भाग.पुरा.१०।८७(=८४)।१२) अनुसार अपनी सभी शक्तियोंको तिरोहित करके शेष शैयाके ऊपर पोढते हैं, तब उन शक्तियोंका नाश नहीं हो जाता; प्रत्युत केवल तिरोधान ही होता है. भगवान्के निजगेहमें भगवान्की सहशक्ति सभी श्रुति हैं.

श्रीभास्कराचार्यके अनुसार ब्रह्मकी शक्तियोंका परिणाम जगत है, स्वरूपपरिणाम नहीं है. कुछ अन्य विचारकोंके अनुसार शक्तियां भी नष्ट हो जाती हैं; केवल भगवान् ही शेष रह जाते हैं. परन्तु वेदस्तुति निरूपित वृत्तान्तके अनुसार श्रुति भगवान्की शक्ति है, जो अर्थरूप भगवान्को जगा रही हैं. श्रुतियां भगवान्की सेल्फ् अवेरनेस् है. "**श्रुति-स्मृती ममैव आज्ञे**" ( ) अनुसार

श्रुतियोंको परावाणीके रूपमें ब्रह्माजीको भगवान्ने दिया तथा तदुपरांत परंपरामें परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी होते होते वाच्यवेदके रूपमें जीवोंको वेद प्राप्त हुए. जैसे ब्रह्म चतुष्पाद है, उसी प्रकार वाणी भी उपरोक्त चारों फॉर्मेट्से चतुष्पाद है तथा ब्रह्मकी सेल्फ् अवेरनेस् है. ब्रह्मकी सेल्फ् अवेरनेस् है वह ब्रह्मको जगा रही है. जैसे हायबरनेशन्में मेंढकको बरसात हो जानेपर उसकी सेल्फ्-अवेरनेस् जगा देती है. श्रुतियोंके जगानेके बाद ब्रह्म अपनी उन शक्तियोंका अर्थात् सर्वभवनसामर्थ्यात्मिका मायाका प्रयोग सृष्टिके इन्स्ट्रुमेन्टल् कोज़्के रूपमें करता है तथा स्वयं सृष्टिके प्रति उपादान कारण (मटीरियल) कॉज़् कहे जाते हैं.

श्रीद्वारकेशजी निरूपित अध्यायार्थ

वेदकृता हरेः स्तुतिः पञ्चाशता. तत्र एवं विभागः-

(१)प्रथमे राजप्रश्नः : प्रथम श्लोकमें परीक्षितका प्रश्न.

(२)द्वितीये कार्यचतुष्टयार्थं चतुर्धा सृष्टिः : द्वितीय श्लोकमें चार कार्योंके लिए चतुर्धा सृष्टि.

(३)तृतीये हृदि उपनिषद्धारिणां क्षेमगतिः : तृतीयश्लोकमें हृदयमें उपनिषद्को धारण करनेवालोंकी क्षेमगति कही गई है.

(४)चतुर्थे पूर्वेतिहासप्रक्षेपः : चौथे श्लोकमें पूर्व इतिहासका प्रक्षेप किया गया है.

(५)पञ्चमे नारदवृत्तान्तः : पांचवी कारिकामें नारदजीके वृत्तान्तका कथन है.

(६)षष्ठे नारायणवृत्तान्तः : छठ्ठी कारिकासे नारायणके वृत्तान्तको कहा जा रहा है.

(७)सप्तमे नारदप्रश्नानुवादे नारायणस्य सुगमावस्था : सातवीं कारिकामें नारदजीके प्रश्नके अनुवादके रूपमें नारायणकी सुगमावस्था कही गई है.

(८)अष्टमे संक्षेपेण उत्तरदानम् : आठवीं कारिकामें संक्षेपमें उत्तर दिया गया है.

(९)नवमे तेन सन्देहानपगमे नारायणस्य सुगमावस्था : नवमी कारिकामें संदेहनिवृत्ति होनेपर नारायणकी सुगमावस्था कही गई है.

(१०)सार्धे दशमे नारदस्य अज्ञानकारणम् : दसवीं कारिकामें नारदजीके अज्ञानका कारण बताया गया है.

(११)एकादशे श्रोतृ-पृच्छकवक्तृत्वाधिकारः : ग्यारहवी कारिकासे श्रोता एवं वक्ता के अधिकारका निरूपण किया है.

अतः परम् अष्टाविंशतिभिः वेदस्तुतिः : तदुपरांत २८ श्लोकोंसे वेदस्तुति है.

(१)तत्र आद्ये प्रकृतिप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयः : सर्वप्रथम कारिकासे प्रकृतिप्रतिपादिका श्रुतियोंका निर्णय दिया गया है. प्रकृतिका प्रतिपादन करते हुए भी ब्रह्मका भी प्रतिपादन कर रही है. प्रतिपादनका मॉडल् भिन्न-भिन्न है, परन्तु लक्षित ब्रह्म ही हो रहा है सभी प्रकृतिप्रतिपादक वचनोंसे. प्रतिपादनका मॉडल् सभी आचार्योंने भले ही भिन्न-भिन्न माने हों, परन्तु प्रतिपाद्य अन्ततः ब्रह्म ही है.

(२)द्वितीये पुरुषप्रतिपादिकानाम् : द्वितीय कारिकामें पुरुषप्रतिपादिका श्रुतिवचनोंका निर्णय है.

(३)तृतीये साधनावस्था : तृतीय कारिकामें साधनावस्थाका निर्णय दिया गया है.

(४)तुरीये देवतान्तर-कर्मान्तरविधिनिर्णयः : देवतान्तर-कर्मान्तरकी विधिका निर्णय दिया है, जिनका भी अन्ततः लक्ष्य ब्रह्म ही है. यथा अग्नि-सोम आदि देवताओंका निरूपण तथा तदनुसारी कर्म-साधनादि. ये सभी भी ब्रह्मसे भिन्न नहीं होनेका निरूपण श्रुति करती है.

(५)पञ्चमे बहुविध-भगवदुपासकफलनिर्णयः : अनेकविध भगवदुपासकोंके

फलका निर्णय दिया गया है. तत्तत्कर्मोंको देवतान्तरके प्रति करेंगे तो तत्तत् फल प्राप्त होंगे, परन्तु उन्हीं कर्मोंको ब्रह्मपरकबुद्धिसे करेंगे तो वही कर्म भगवदुपासना मानी जायेगी. ब्रह्मोपासना-देवोपासनाके स्वरूपका निर्णय.

(६)षष्ठे अनुप्रवेशश्रुतीनां निर्णयः : **''तत्सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्''** (तैत्ति.उप.२।६।१) वचनानुसार भगवान्के अनुप्रवेशका निर्णय दिया गया है.

(७)सप्तमे जीवस्वरूपवर्णनम् : जीवात्माके स्वरूपका वर्णन किया गया है. भगवान् जिन जीवोंमें प्रविष्ट हो रहे हैं, उसका निरूपण सातवीं कारिकामें किया गया है.

(८)अष्टमे भगवत्कथया जीवानाम् आनन्दः : तिरोहितानन्दका जीवोंमें भगवत्कथामें होते आनन्दप्रवेशका निरूपण आठवीं कारिकामें किया गया है.

(९)नवमे जीवानां हरिसेवाऽवश्यकता : नौवीं कारिकामें जीवोंके लिए हरिसेवाकी आवश्यकताका निरूपण किया गया है. अतः सेवा लीलया होनी चाहिए अर्थात् आनन्दका एक्स्प्रेशन् लीला होनी चाहिए; कामना, सेन्स ऑफ् इयूटी, पुरुषार्थ आदिका एक्स्प्रेशन् नहीं.

(१०)दशमे भगवत्सेवाप्रकारः : भगवत्सेवाके प्रकारका निरूपण किया गया है.

(११)एकादशे शास्त्रद्वयविरोधपरिहारः : शास्त्रद्वय विरोधका परिहार ग्यारहवी कारिकासे किया गया है.

(१२)द्वादशे भगवद्भजनासहिष्णुनिषेधः : भगवद्भजनके असहिष्णुओंका निषेध किया जा रहा है. अर्थात् **''प्रतिकूले गृहं त्यजेत्''** (पंचश्लोकी ३) प्रकारानुसार. इस अर्थमें अन्याश्रय असमर्पितत्याग अवैष्णवत्याग आदि साधनोंके अर्थमें वैराग्य सार्थक होता है, सभीके भगवद्रूप होनेपर

भी. **''यत् किञ्चिद् दूषणन्तु अत्र दूष्यञ्चापि हरिः स्वयं, विरुद्धपक्षाः सर्वेऽपि सर्वम् अत्रैव शोभते''** (सुबो.२।९।३२) अनुसार तो सभी दूषण भी भगवद्रूप ही है तथा दूषणतया प्रकट होनेवाले भी भगवान् ही हैं, ब्रह्मवादमें तथा वे सभी विरुद्धपक्ष ब्रह्ममें शोभायमान भी होते हैं. ब्रह्ममें ये अशोभनीय नहीं है, परन्तु ये सभी विरुद्धधर्म परिच्छिन्न जीवमें अशोभनीय है.

(१३)त्रयोदशे अन्यसिद्धान्तपरिहारपूर्वकदोषद्वयपरिहारः : अन्यसिद्धान्तोंके परिहारपूर्वक दोनों ही दोषोंका परिहार किया गया है.

(१४)चतुर्दशे भक्तदोषनिराकृतिः : भक्तके दोषोंके निराकरणका निरूपण.

(१५)पञ्चदशे अभजननिषेधः : पंदरहवे श्लोकमें अभजनका निषेध किया गया है.

(१६)षोडशे कार्यद्वारा प्राप्तदोषनिराकृतिः : कार्यद्वारा प्राप्त होते दोषोंकी निवृत्तिका प्रकार बताया गया है. **''सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेन अग्निरिव आवृताः''** (भग.गीता १८।४८) गीतावचनके अनुसार प्रत्येक कार्यमें कोई न कोई दोष तो प्रकट होंगे ही, भले ही वो भगवत्सेवा ही क्यों न हो. उन दोषोंकी निवृत्तिका प्रकार बताया गया है.

(१७)सप्तदशे भगवदधीनत्वम् : भगवदधीनत्वका निरूपण किया गया है.

(१८)अष्टादशे जीवसंघातयोः भगवदात्मकता : जीवसंघातकी भगवदात्मकताका निरूपण किया गया है.

(१९)एकोनविंशे भगवत्सेवकानां कालभयाभावः : भगवदात्मकता होनेसे भगवत्सेवकोंको कालभयके अभावका निरूपण किया गया है.

(२०)विंशे योगनिन्दा : योगकी निंदा की गई है. परतः किया जाए तो निंद्य है, स्वतः किया जाए तो अभिनंदनीय है. स्वतः-परतः मोक्षमें सांख्य-योग निंद्य भी हो सकते हैं और अभिनंदनीय भी.

स्वत:मोक्षमें स्वाश्रय हो जानेसे योग भगवान्‌की पंचपर्वा विद्याका अंग होनेसे अभिनंदनीय है. परत: करेंगे तो अपने-आपको ही पर बनाया. मुक्तिमें ऐश्वर्य ब्रह्मका माना जाए, तो अभिनंदनीय है, किन्तु जीव यदि मोक्षमें अपना ही ऐश्वर्य माने, तो निंदनीय कार्य है.

(२१)एकोनविंशे स्वजनादित्यागपूर्वकं हरिभजनम् : यदि स्वजन बहिर्मुख हैं, तो उनके त्यागपूर्वक हरिभजनका निरूपण किया गया है. यदि स्वजन भगवत्सेवांग हो तो उनके त्यागकी आवश्यकता नहीं है.

(२२)द्वाविंशे भजने क्रम: : भजनके क्रमका निरूपण किया गया है.

(२३)त्रयोविंशे लौकिके सत्त्वनिराकरणम् : लौकिकमें सत्त्वका निराकरण अथवा लौकिकमें सत्त्वकी स्वीकृति जीवकी मानसिकता एवं समर्पण के भावके ऊपर निर्भर करता है.

(२४)चतुर्विंशे लौकिके असत्स्थापनम् : उपरोक्त प्रकारके अनुसार अभजनार्थ ही लोकके सत्त्वका विस्थापन.

(२५)पञ्चविंशे लौकिके चित्त्वनिराकरणम् : भजनरहित जीवमें चित्त्वका निराकरण. यदि लोकमें भजन नहीं करना है तो लोक भी असत् है तथा जीव स्वयं भी अचित् तुल्य ही है.

(२६)षड्विंशे लोके चित्स्थापनम् : लोकमें चित्‌का स्थापन.

(२७)सप्तविंशे लोके आनन्दनिराकरणम् : लोकमें आनन्दका निराकरण. (निरानन्द होते हुए भी आनन्दके प्राकट्यका साधन भजनद्वारा आनन्द प्रकट होता है, अन्यथा निरानन्द ही रहेगा.)

(२८)अष्टाविंशे लोके भगवदानन्दस्य देशकाल-परिच्छेद्यत्वम् : लोकमें प्रकट होते आनन्दकी देश-काल अपरिच्छिन्नताका निरूपण. (भजनद्वारा आनन्दप्राकट्य)

एतद् उपसंहारः, अस्य प्रवृत्तिश्च नवभिः तत्र पञ्चभिः उपसंहारः.

(१)तत्र आद्ये गुरुपूजनम्.

(२)द्वितीये आत्मानुशासनमाहात्म्यम्.

(३)तृतीये नारदं प्रति एतद्धारणाज्ञा एतावद् नारायणवाक्यम्.

(४)तुर्ये नारदस्य एतद्धारणम्.

(५)पञ्चमे नारदेन श्रीकृष्णस्य नमनम्.

द्वाभ्यां प्रवृत्तिः. तत्र आद्ये नारदस्य द्वैपायनाश्रमे गतं, द्वितीये व्यासाग्रे एतद्वर्णनम्, एकोनपञ्चाशति श्रीशुकेन राज्ञे उत्तरदानसमर्थनं, पञ्चशति श्रीशुकैः संक्षेपेण श्रुतिगीतार्थकथनम्, (एवं पञ्चाशत् श्लोकाः इति चतुरशीतिः अध्यायसंग्रहः)

उपसंहारमें सर्वप्रथम ज्ञानप्राप्तिके लिए नारदजीने वंदन किया. द्वितीय वंदन कृतज्ञताके निवारणके लिए वंदन किया जाता है. ज्ञान प्राप्त हो जानेके बाद नारदजीने भगवान्को नमन किया. नारदजी व्यासजीके आश्रममें पधारे तथा ५१कारिकामें शुकदेवजीने परीक्षितद्वारा **''कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात् सदसतः परे?''** प्रश्नका उत्तर देते हुए **''श्रुतयः चरन्ति''** की पूरी प्रक्रियाका निरूपण वेदस्तुतिके निरूपणद्वारा करते हुए वेदका निर्गुण-अनिर्वचनीय ब्रह्ममें भी ब्रह्मकी स्वतन्त्र इच्छासे होते शब्दब्रह्मरूप वेदके चरणका समर्थन किया है. अतः श्रीशंकराचार्यद्वारा **''श्रुतयः न चरन्ति''** पक्षका निराकरण श्रीशुकदेवके वचनोंसे ही हो जाता है.

यद्यपि श्रीशंकराचार्यद्वारा विरचित कोई टीका भागवतपर उपलब्ध नहीं होती, किंतु वेदस्तुति निरूपित विषयका ही निरूपण उपनिषद्में जहां प्राप्त होता है, उसके भाष्यका अवलोकन करनेपर श्रीशंकराचार्यके अनुसार वेदस्तुति निरूपित प्रश्न एवं उत्तररूपेण प्राप्त सर्वश्रुतिनिरूपितका स्वरूप जैसा **''स्वसृष्टम् इदं आपीय शयानं सह शक्तिभिः''**

(भाग.पुरा.१०।८७(=८४)।१२) की पॅराफ्रेज़िग् की जा सकती है.

''नैव इह किञ्चन अग्रे आसीत्. मृत्युनैव इदम् आवृतम् आसीद्, अशनायया. अशनायाः हि मृत्युः तद् मनो अकुरुत आत्मन्वी स्याम् इति'' (बृह.उप.१।२।१) अर्थ : दृष्टिगत होते (नाम-रूप-कर्म) पहले थे नहीं, क्योंकि सभी कुछ मृत्युसे आवृत्त था. तब उसे आत्मन्वी होनेकी इच्छा हुई, अतः उसने मनको प्रकट किया.

तात्पर्य यह है कि प्रलयके बाद सृष्टिगत सभी पदार्थ मृत्युसे आवृत थे. जैसे अपने विराटस्वरूपके दर्शन कराते हुए अर्जुनके समक्ष सभीका प्रवेश भगवान् अपने मुखमें करवा रहे हैं ऐसा दिखाया, उसी प्रकार यहां दिखाया जा रहा है कि मृत्युसे सभी कुछ आवृत हो गया. यहां 'मृत्यु' शब्दसे तात्पर्य है कि भगवान्ने सभीको अपनेमें री-एब्ज़ोर्ब कर लिया. तब अशनाको आत्मन्वी होनेकी इच्छा हुई, या जो आवृत था उसे आत्मन्वी होनेकी इच्छा हुई? यदि अशनाको इच्छा हुई ऐसा कहेंगे तो क्रियावादका स्वीकार करना पडेगा. अर्थात् विज्ञानकी तरह डायनॅमिक् प्रोसेस् माननेपर सॅल्फ-इवॉल्यूशन्की प्रक्रिया माननी पडेगी. यदि अशनासे आवृत नाम-रूप-कर्मोंको इच्छा हुई ऐसा कहेंगे, तो उन नाम-रूपोंको ब्रह्मवादके अन्तर्गत ब्राह्मिक नाम-रूप मानने पडेंगे, अन्यथा ब्रह्मवाद खंडित हो जायेगा. 'आत्मन्वी' पदसे तात्पर्य है आत्मवान होनेकी इच्छा. जब सृष्टिको री-एब्ज़ोर्ब कर लिया, तब शरीर आत्मामें चला गया. अतः उस शरीरको पुनः आत्मवान् होनेकी इच्छा हुई, जो ब्रह्मात्मक था. क्योंकि ब्रह्म शब्दसे तात्पर्य ही उस पदार्थ है कि जिसमें कुछ भी एक्सक्लूड् नहीं होता.

उपरोक्त श्रुतिवचनके भाष्यमें प्रतिपाद्यार्थका निरूपण श्रीशंकराचार्य

इस प्रकार करते हैं.

''''नैव इह किञ्चन अग्रे आसीद्' इह संसारमण्डले, किञ्चन किञ्चिदपि नाम-रूपप्रविभक्तविशेषं, नैव आसीद् न बभूव, अग्रे प्रागुत्पत्तेः मनः आदेः. किं शून्यमेव बभूव? शून्यमेव स्याद्; नैव इह किञ्चन इति श्रुतेः, न कार्यं कारणं वा आसीद्; उत्पत्तेश्च; उत्पद्यते हि घटः, अतः प्रागुत्पत्तेः घटस्य न अस्तित्वम्. ननु कारणस्य न नास्तित्वं, मृत्पिण्डादिदर्शनाद्, यद् न उपलभ्यते तस्यैव नास्तिता. अस्तु कार्यस्य, नतु कारणस्य उपलभ्यमानत्वात्. न प्रागुत्पत्तेः सर्वानुपलम्भात्. अनुपलब्धिः चेद् अभावहेतुः, सर्वस्य जगतः प्रागुत्पत्तेः न कारणं कार्यं वा उपलभ्यते; तस्मात् सर्वस्यैव अभावो अस्तु''.

''''न मृत्युनैव इदम् आवृतम् आसीत्' इति श्रुतेः; यदि हि किञ्चिदपि न आसीद्, येन अव्रियते यच्च अव्रियते, तथा न अवक्ष्यन् मृत्युनैव इदम् आवृतम् इति, नहि भवति गगनकुसुमच्छन्नो वन्ध्यापुत्रः इति; ब्रवीति च मृत्युनैव इदम् आवृतम् आसीद् इति. तस्माद् येन आवृतं कारणं, यच्च आवृतं कार्यं, प्रागुत्पत्तेः तदुभयम् आसीत्, श्रुतेः प्रामाण्याद्, अनुमेयत्वात् च. अनुमीयते च प्रागुत्पत्तेः कार्यकारणयोः अस्तित्वम्. कार्यस्य हि सतो जायमानस्य कारणे सति उत्पत्तिदर्शनाद्, असति च अदर्शनाद्, जगतोऽपि प्रागुत्पत्तेः कारणास्तित्वम् अनुमीयते, अनुपमृद्य मृत्पिण्टादिकं घटाद्यनुत्पत्तिः इति चेद्, न; मृदादेः कारणत्वात्. मृत्सुर्वणादि हि तत्र कारणं घटरुचकादेः, न पिण्डाकारविशेषः, तदभावे भावात्. असत्यपि पिण्डाकारविशेषे मृत्सुर्वणादिकारणद्रव्यमात्रादेव घटरुचकादिकार्योत्पत्तिः दृश्यते. तस्माद् न पिण्डाकारवि-

शेषे घटरुचकादिकारणम्. असतितु मृत्सुवर्णादिद्रव्ये घटरुचकादिः न जायते इति मृत्सुवर्णादिद्रव्यमेव कारणं, नतु पिण्डाकारविशेषः''.

(बृह.उप.शां.भा.१।२।१)

इस संसारमें नाम-रूप-कर्मका जो विस्तार दिखाई दे रहा है, वो पहले नहीं था अर्थात् मनकी उत्पत्तिसे पहले ये प्रभेद नहीं थे. क्योंकि मनको इच्छा हुई, अर्थात् मन सर्वप्रथम प्रकट हुआ था. यदि ये नाम-रूप-कर्मका विभाग नहीं था, तो क्या शून्य था? श्रीशंकराचार्य उत्तर देते हैं कि नहीं, शून्य नहीं था. क्योंकि कार्य नहीं था ऐसा कहा जा सकता है, परन्तु कारण भी नहीं था, ऐसा नहीं कहा जा सकता. क्योंकि श्रुतिमें कहा जा रहा है कि मृत्युसे आवृत था सबकुछ. अतः मृत्युकी सत्ता तो पूर्व भी थी ही तथा यदि मृत्यु भी थी, तो मृत्युसे आवृत पदार्थ भी था ही. शून्य था ऐसा कहेंगे तो तो आकाशपुष्पमें वंध्यापुत्र छुपा हुआ था, ऐसी बात हो जायेगी. अतः शून्यका स्वीकार नहीं किया जा सकता. अतः जिस पदार्थकी सत्ता थी, वही कार्यरूपसे उत्पन्न हुआ, यही स्वीकारना पड़ेगा क्योंकि यदि उत्पत्तिकी क्रिया हुई है, तो क्रिया निराश्रय तो हो नहीं सकती. अतः किसी न किसी सब्स्टेन्स्में ही क्रिया हुई है.

द्रव्यमें होते परिवर्तनमें दो सम्भावनाएं हैं, एक तो द्रव्यका द्रव्यान्तरमें परिणत होना अथवा अर्थक्रियाकारिता फंक्शन्का कारण बनना जिससे एक ही सब्स्टेन्स्में कार्य-कारणसम्बन्ध बने, द्रव्यान्तरके प्रकट हुए बिना. पिंडाकृति ही सुवर्णाकृतिका कारण है, सुवर्ण कारण नहीं है. अर्थात् फंक्शन् कारण बनता है. अर्थात् द्रव्यान्तरकी उत्पत्ति नहीं है, अपितु एक ही द्रव्यमें फंक्शन्के कारण कार्योत्पत्ति होनेसे एक ही सब्स्टेन्स्में कार्य-कारण हैं.

परिवर्तनके दो प्रकार हैं-

(1) Transformation : Phenomenal and Emperical

(2) Transsubstantiation : Phenomenal and Emperical

अतः मृत्सुवर्णादि द्रव्य ही कारण हैं, पिण्डाकार नहीं. यही प्रक्रिया सृष्टिके प्रति भी जाननी चाहिए. अर्थात् द्रव्यान्तरकी उत्पत्ति नहीं है, अपितु एक ही द्रव्यमें दो तरहके अर्थक्रियाकारित्व फंक्शन्के कारण कार्य-कारणसम्बन्ध प्रकट हो रहा है.

भागवतकी द्वितीय पंक्ति : **"तदन्ते बोधयान् चक्रुः तल्लिंगैः श्रुतयः परम्"** (भाग.पुरा.१०।८४।१२)की पॅराफ्रेज़िंग् श्रुतिवचनमें इस प्रकार प्राप्त होती है, **"रूपं-रूपं प्रतिरूपं बभूव तद् अस्य रूपं प्रतिचक्षणाय, इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपः ईयते युक्ताः हि अस्य हरयः शता दशेति"** (बृह.उप.२।५।१९) अर्थ : प्रत्येक रूपके साथ वह प्रतिरूप हो गया. वह उसका रूप हमारे देखनेके लिए है. इन्द्र भिन्न-भिन्न रचनासे अनेक रूपोंवाला प्रतीत होता है, दस सौ इसके घोडे जुडे हुए हैं. यह ही आत्मा दस और हजारो है, बहुत है और अनन्त है.

श्रुतिवचनका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म एक-एक रूपके प्रतिरूप हुए है. क्योंकि उनका रूप हमे इन दृश्य रूपोंके कारण समझमें आ पाता है. अर्थात् प्रत्येक आधिभौतिक रूपका आधिदैविक रूप ब्रह्मके पास है. जागतिक रूप, एक नाम एवं एक ही कर्मसे परिच्छिन्न है, परन्तु ब्रह्म सर्वरूप होनेसे उनके नाम-रूप-कर्म अपरिच्छिन्न हैं.

श्रीशंकराचार्य उपरोक्त श्रुतिवचनका अर्थ इस प्रकार करते हैं :

"इदं वै तन्मध्वित्यादि पूर्ववत्. रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव रूपं रूपं प्रति प्रतिरूपः रूपान्तरं बभूव इति अर्थः, प्रतिरूपो अनुरूपो वा यादृक्संस्थानौ मातापितरौ तत्स्थानः तदनुरूपएव पुत्रो जायते; नहि चतुष्पदो द्विपाद् जायते, द्विपदो वा चतुष्पादः, सएव हि परमेश्वरो नामरूपे व्याकुर्वाणः रूपं-रूपं प्रतिरूपं बभूव. किमर्थं पुनः प्रतिरूपम् आगमनं तस्य इति उच्यते तद् अस्य आत्मनः रूपं प्रतिचक्षणाय प्रतिख्यापनाय; यदि हि नामरूपे न व्याक्रियते तदा अस्य आत्मनो निरूपाधिकं रूपं प्रज्ञानघनाख्यं न प्रतिख्यायेत; यदा पुनः कार्यकारणात्मना नामरूपे व्याकृते भवतः, तदा अस्य रूपं प्रतिख्यायेत. इन्द्रः परमेश्वरः मायाभिः प्रज्ञाभिः नाम-रूपभूतकृतमिथ्याभिमानैः वा नतु परमार्थतः, पुरुरूपः बहुरूपः ईयते गम्यते. एकरूपएव प्रज्ञानघनः सन् अविद्याप्रज्ञाभिः. कस्मात् पुनः कारणात्? युक्ताः रथइव वाजिनः, स्वविषयप्रकाशनाय हि यस्माद् अस्य हरयः हरणाद् इन्द्रियाणि, शता शतानि, दश च, प्राणिभेदबाहुल्यात् शतानि दश च भवन्ति; तस्माद् इन्द्रियविषयबाहुल्यात् शतानि दश च भवन्ति; तस्माद् इन्द्रियविषयबाहुल्यात् तत्प्रकाशनायैव च युक्तानि तानि न आत्मप्रकाशनाय; "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः" (कठोप.२।१।१) इति हि काठके. तस्मात् तैरेव विषयस्वरूपैः ईयते, न प्रज्ञानघनैकरसेन स्वरूपेण. एवं तर्हि अन्यः परमेश्वरः अन्ये हरयः इत्येवं प्राप्ते उच्यते, अयं वै हरयो अयं वै दश च सहस्राणि बहूनि च अनन्तानि च; प्राणिभेदस्य आनन्त्यात्. किं बहुना! तदेतद् ब्रह्म च आत्मा, अपूर्वं न अस्य कारणं पूर्वं विद्यते इति अपूर्वम्. न अस्ति अपरं कार्यं विद्यते इति अनपरम्, नाभ्य जात्यन्तरमन्तराले विद्यते इति अनन्तरम्, तथा बहिः अस्य

न विद्यते इति अबाह्यं, किं पुनः तद् ब्रह्म? अयम् आत्मा; को अस्मैः? यः प्रत्यगात्मा द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा विज्ञाता सर्वानुभूः सर्वात्मा सर्वम् अनुभवति इति सर्वानुभूः इति एतद् अनुशासनं सर्ववेदान्तोपदेशः, एषः सर्ववेदान्तानाम् उपसंहृतो अर्थः, एतद् अमृतम् अभयं, परिसमाप्तश्च शास्त्रार्थः''.

(बृह.उप.शां.भा.२।५।१९)

श्रीशंकराचार्यके अनुसार ''इन्द्र मायाद्वारा अनेक रूपोंको धारण करता है'' में 'माया' शब्दका तात्पर्य श्रुतिके अनुसार प्रज्ञा है. अर्थात् माया ब्रह्मकी इन्टलिजंस् है जिसके द्वारा वह सर्वरूप हो जानेके बाद, उन सभी नाम-रूप-कर्मोंको रजिस्टर् कर लेता है. अर्थात् परिच्छिन्न होनेके कारण हमारे सब्स्टेन्स्की कॅपॅसिटी ॲक्ज़ॉस्ट् हो जाती है, परन्तु भगवान् सर्वसामर्थ्यवान् होनेसे वे सभी नाम-रूप-कर्मोंको धारण करते हैं. श्रीशंकराचार्य यहां अर्थ करते हैं कि 'प्रज्ञा' शब्दसे तात्पर्य है कि नाम-रूप-कर्मभूत मिथ्याभिमान ही ब्रह्मकी प्रज्ञा है. **''सः ह एतावान् आस''** (बृह.उप.१।४।३), **''सर्वं खलु इदं ब्रह्म''** (छान्दो.उप.३।१४।१), **''एको अहं बहु स्यां प्रजायेय''** (छान्दो.उप.६।२।३) आदि सभी वचनोंमें प्रतिपादित ब्रह्मकी प्रज्ञा मिथ्याभिमान है. उस मिथ्याभिमानको उत्पन्न करनेमें करणरूप इन्द्रिय ब्रह्मके पास कौनसी है? तो श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि ब्रह्मकी एक नहीं, अपितु अनन्त इन्द्रिय हैं. अर्थात् सृष्टिगत जीवोंकी सभी इन्द्रिय ब्रह्मकी ही तो इन्द्रिय हैं तथा उन्हें धारण करनेवाले विभिन्न चेतनास्वरूप जीवकी सभी चेतना भी ब्रह्मकी ही चेतना होनेसे उन इन्द्रियोंद्वारा गृहीत सभी रूपोंका कार्योंका अभिमन्ता ब्रह्म ही है. यहां आपत्ति यह खड़ी होती है कि पाणिनीय परिभाषा **''समानाश्रयम् असिद्धं भवति, व्याश्रयं च एतत्.''**

(पाणि.सू.महाभा.६।४।२२)के अनुसार ब्रह्मकी इन्द्रिय एवं जीवकी इन्द्रियों में व्याश्रय हो रहा है. श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि जीव क्षुद्र भ्रान्तिके कारण भेदका अनुभव करता है, वस्तुतः तो अभेद ही होनेसे व्याश्रयदोष नहीं है. अतः सभीका द्रष्टा श्रोता विज्ञाता सभी अनुभूतियोंका अधिष्ठान ब्रह्म ही है. यही वेदान्तोपदेश है. अतः उपरोक्त भागवतवचनका तात्पर्य श्रीशंकराचार्यने ब्रह्मवादपरक न करते हुए भ्रमात्मक विवर्तोत्पत्तिका प्रकार सिद्ध किया है.

श्रीधरस्वामिकृतभावार्थदीपिका

सप्ताशीतितमे नारायणनारदवादतः।
वेदैः स्तुतिः गुणालम्बाः निर्गुणावधि वर्ण्यते।।
सम्प्रदायविशुद्ध्यर्थं स्वीयनिर्बन्धयन्त्रितः।
श्रुतिस्तुतिमितव्याख्यां करिष्यामि यथामति।।
श्रीमद्भागवतं पूर्वैः सारतः सन्निवेषितम्।
मयातु तदुपस्पृष्टम् उच्छिष्टम् उपचीयते।।
एवं स्वभक्त्यो राजन्! भगवान् भक्तभक्तिमान्।
उषित्वा आदिश्य सन्मार्गं पुनर्द्वारवतीमगात्।।

इत्यत्र सन्मार्गं सतां स्वतः प्रमाणभूतानाम् अप्रामाण्यकारण-सहितानां वेदानां मार्गं ब्रह्मपरत्वम् उपदिश्य भगवानगादित्युक्तं तत्र वेदानां ब्रह्मपरत्वम् अघटमानं मन्वानः पृच्छति बृह्मन् इति. तत्र तावद् मुख्यालक्षणागुणभेदेन त्रिधा शब्दप्रवृत्तिः मुख्याऽपि रूढियोगभेदेन द्विधा. रूढिश्च स्वरूपेण जात्या गुणेन वा निर्देशार्हे वस्तुनि संज्ञासंज्ञिसंकेतेन प्रवर्तते, यथा ''डित्थौ गौः शुक्लः'' इति लक्षणा च तेनैव संकेतेन अभिहितार्थसम्बन्धिनि यथा ''गंगायां घोषः'' इति गौणी च अभिहितार्थलक्षितगुणयुक्ते तत्सदृशे यथा ''सिंहो देवदत्तः'' इति यथा आहुः अभिधेयाविनाभूतप्रवृत्तिः लक्षणा इष्यते.

लक्ष्यमाणगुणैः योगाद् वृत्तेः इष्टातु गौणता इति. योगवृत्तिस्तु एतत्त्रिविधवृत्तिप्रवृत्तिप्रतिपादितपदार्थयोः प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः वा योगेन यथा "पंकजमौपगवः पाचकः" इत्यादि तत्र तावद् ब्रह्मणि रूढिवृत्तिः न सम्भवति इति आह साक्षात् कथं चरन्ति इति तत्र हेतुः अनिर्देश्ये अनिर्देश्यत्वे अपि हेतुं वदन् गुणवृत्तिं निराकरोति, निर्गुणे गुणवृत्तयः इति. गुणैः वर्तमानाऽपि निर्गुणे कथं चरन्ति इति अर्थः. निर्गुणत्वे च हेतुं वदन् लक्षणां योगञ्च निराकरोति सदसतः परे इति कार्यकारणाभ्यां परस्मिन् असंगे केनचिदपि सम्बन्धाभावाद् न लक्षणायोगवृत्ती सम्भवतः इति अर्थः. एवं पदार्थत्वायोगाद् अपदार्थस्य च वाक्यार्थत्वायोगाद्, न श्रुतिगोचरत्वं ब्रह्मणः इति अभिप्रायः.

श्रीधरस्वामीके अनुसार वेदस्तुतिमें गुणावलंबनद्वारा ब्रह्मकी निर्गुणताका निरूपण किया गया है. सम्प्रदायकी विशुद्धिके लिए तथा स्वीयशिष्योंके बंधकी निवृत्तिके लिए वेदस्तुतिकी व्याख्या यथामति कर रहे हैं. कथाके कोन्टेस्क्ट्को बतानेको बाद कहते हैं कि सत्पुरुषोंके लिये अतः प्रमाणरूप जो वेद है जिसमें अप्रामाण्यका कोई कारण नहीं है, वो वेदमार्ग ब्रह्मपरक है, ऐसा उपदेश दे कर जब भगवान् द्वारका पधारे. वहां परीक्षितको शंका होती है कि भगवान्ने वेदको ब्रह्मपरक बताए, किन्तु ये बात परीक्षितको योग्य न लगनेसे उन्हें शंका हो रही है कि अनिर्देश्य ब्रह्ममें श्रुतियोंका चरण कैसे हो सकता है! ब्रह्म विशेषतारहित होनेसे उनका निरूपण किया कैसे जा सकता है! अर्थात् ब्रह्ममें तात्पर्यवृत्तिसे श्रुतिका चरण निर्विषयक-निर्धर्मक ब्रह्ममें हो सकता है. शब्दकी वृत्ति मुख्या लक्षणा गौणी तीन प्रकारकी होती हैं. मुख्या भी रूढि और योग के भेदसे दो प्रकारकी होती है. रूढिकी प्रवृत्तिके

नियामक जाति गुण आदि प्रयोजक होते हैं अर्थात् निर्देशार्ह पदार्थकी कोई न कोई संज्ञा दी सकती है, जिससे रूढिकी प्रवृत्ति उस शब्दार्थमें हो जाए. गुणके कारण रूढिमें संकेत प्रकट होते हैं. जैसे डित्थ व्यक्ति गौ जाति गुण आदिमें रूढिकी प्रवृत्ति होती है. लक्षणासे तात्पर्य है साक्षात् शब्दका अर्थ न बताते हुए, शब्दार्थसे लक्षित अर्थका द्योतन करना, जैसे ''गंगायां घोषः''. गौणी प्रयोगमें भी समानगुण प्राप्त होनेपर लक्षित वस्तुके साथ अन्य अर्थका भी अंगीकार किया जाता है. अभिधेयसे रिलेटेड् नेसेसरी जो मीनिंग् है, उसमें लक्षणा की जाती है. योगवृत्तिमें इट्मोलॉजिकली अर्थका विभाग करके अर्थ निकालना. इन सभी शब्दसे अर्थतात्पर्यका बोध करवानेवाली प्रक्रियाओंमेंसे ब्रह्ममें रूढि अभिधा लक्षणा गौणी आदिका प्रयोग किया नहीं जा सकता क्योंकि ब्रह्ममें जाति गुण एवं निर्देशार्हता का अभाव होनेसे. अतः परीक्षितको प्रश्न उपस्थित हो रहा है कि शब्दात्मक-वाक्यात्मक श्रुतियोंका चरण ब्रह्ममें कैसे हो पायेगा ?

श्रीधरके अनुसार यहां परीक्षितको शंका हो रही है, किन्तु श्रीमध्वाचार्य-श्रीजीवगोस्वामी आदि टीकाकारोंके अनुसार ये असम्भावनात्मिका शंका नहीं, प्रकारार्थक शंका है. अतः यहां श्रीधरस्वामीका मत श्रीशंकराचार्यके ही समान प्रतीत होनेसे उनकी टीकाका मायावादपरक होना असंदिग्ध है.

श्रीमद्वीरराघवकृत भगवच्चन्द्रिका

''सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो हि अहम्'' (भाग.पुरा.१-०।८६(=८३)।५४) इति वेदानां ब्रह्मप्रमापकत्वं भगवदुक्त्यैव अवगतं तत्पूर्वाध्यायेऽपि ''विशुद्धसत्त्वधाम्नि अद्धा त्वयि शास्त्रशरीरिणि'' (भाग.पुरा.१०।८५(=८२)।४२) इति बलिव-

चनेनापि अवगतं तत्पूर्वाध्यायेऽपि ''ब्रह्म ते हृदयं शुक्लम्'' (भाग.पुरा.१०।८४(=८१)।१९) इत्यादिना शास्त्रयोनेस्तु आत्मनः इत्यन्तेन मुनिवचसाऽपि अवगतम्. श्रूयते च एवं ''सर्वे वेदाः यत्पदम् आमनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति'' (कठोप.१।२।१५) इति. स्मर्यते च ''वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यः'' (भग.गीता १५।१५) इति ब्रह्मणश्चिद्-अचिद्-वैलक्षण्यं च बहुशः प्रतिपादितम्. तत्र चिद्-अचिद्-विलक्षणब्रह्मस्वरूपस्वभावपराणां ''सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म'' (तैत्ति.उप.२।१) इत्यादिना 'परमात्म'शब्दसामानाधिकरणतया श्रुतानां चिदचिद्वाचिनां शब्दानां कथं परमात्मप्रमापकत्वम्? इति पृच्छति राजा ब्रह्मन् इति. हे ब्रह्मन्! अत्र गुणवृत्तयः इति अत्र गुणशब्दो विशेषणपरः. गुणेन जाति-गुण-क्रियान्यतमेन द्वारभूतेन वृत्तिः बोधनं यासां ताः जात्यादिकं प्रवृत्तिनिमित्तीकृत्य तद्विशिष्टाभिधायिन्यः श्रुतयः चिदचित्पराः कथं ब्रह्मणि साक्षात् चरन्ति प्रवर्तन्ते. नहि प्रवृत्तिनिमित्तप्रहाणेन शब्दः प्रतिपादयितुम् अलम् इति प्रश्नार्थः. नच लक्षणया चरन्ति इति वक्तुं युक्तम्. उदाहृतश्रुतिस्मृत्यादिभ्यो अभिधावृत्तेरेव अवगमात्. नच कतिपयश्रुतीनां तत्र मुख्यवृत्तिः चिदचिदादिपराणान्तु लक्षणावृत्तिः इति युक्तं ''सर्वे वेदाः यत्पदम् आमनन्ति'', ''वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यः'' इति शब्दस्वारस्यात् सर्वासामपि तस्मिन् अभिधावृत्तेरेव अवगमाद्, अतएव साक्षाद् इति उक्तं तावद् 'जाति'शब्दानां वृत्त्यसम्भवं व्यञ्जयन् विशिनष्टि. अनिर्देश्ये चेतनाचेतनसजातीयतया निर्देष्टुम् अशक्ये. तत्र हेतुः सदसतः परे सच्च असच्च तयोः समाहारः तस्मात् परे चिदचिद्भ्यां परे विलक्षणे अन्यस्मिन् इति यावत्. नहि चिदचिद्गतजातिप्रवृत्तिनिमित्तकश-

ब्दानां चिदचिद्भ्याम् अन्यस्मिन् मुख्यवृत्तिः सम्भवति इति भावः. अथ गुणशब्दानां वृत्तयसम्भवं(वृत्त्यसम्भवं) द्योतयितुं विशिनष्टि निर्गुणे इति. निर्गतत्रैगुण्ये त्रैगुण्यप्रत्यनीके यद्वा 'गुण'शब्दानां ये-ये प्रवृत्तिनिमित्तभूताः गुणाः तेभ्यः सर्वेभ्यः निर्गते निर्गुणे सति निष्क्रियत्वादि उपलक्षणम्.

रामानुजमतावलंबी टीकाकार श्रीवीरराघवका उपरोक्त टीकामें कथन है कि विप्र सर्ववेदमय हैं तथा भगवान् सर्वदेवमय हैं. "**वेदाभ्यासाद् भवेद् विप्रः**" वचनके अनुसार जो द्विज वेदको धारण करता है, स्वाध्यायादिद्वारा वेदोंका आवर्तन करता है, वह स्वयं भी वेदमय हो जाता है.

वेदमयमें 'मयट्' प्रत्यय प्राचुर्यार्थक है, विकारार्थक नहीं. विशुद्ध सत्त्वधाममें भगवान् बिराजते हैं तथा वेद भगवान्का श्रीअंग है. भगवान् बुद्ध एवं श्रीशंकराचार्य ने शब्द-शास्त्रकी यूटिलिटेरियन् वॅल्यू मानी है शब्दके अनित्यत्वका स्वीकार किया होनेसे. परन्तु वैदिक परम्परामें शास्त्रकी यूटिलिटेरियन् वॅल्यू नहीं, अपितु इन्ट्रान्जिक् वॅल्यू मानी है, जैसे भागवतके द्वादश स्कन्धोंमें भगवान् वर्णित होनेसे भागवतको भगवान्के द्वादश अंगरूप माना गया है. ब्रह्म शास्त्रप्रमाणसे वेद्य होनेके कारण अर्थात् वर्बल् कन्सॅप्ट् होनेके कारण, शास्त्रशरीरी है. भगवान् यदि रूप हैं, तो वेद उनका शरीर है. 'भगवान्' यदि नाम हैं तो रूप उनकी आत्मा है. अर्थात् रूप शब्दकी प्रोसेस्से गृहीत होता है. नैयायिकोंके अनुसार शब्द/नाम संकेतमात्र है. लौकिकनामोंके संकेतरूप होनेमें आपत्ति नहीं है, परन्तु अलौकिक शब्द संकेतमात्र नहीं होनेसे वैदिकपरंपरामें शब्द एवम् अर्थ में तादात्म्यसम्बन्ध अपृथग्भावसम्बन्ध माना गया है, जैसा कि कालिदास कहते हैं "**वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये, जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ**" (रघुवंश.१।१) अर्थात् वाणी

और अर्थ दोनों एक-दूसरेसे संपृक्त हैं. यहां वाल्लभवेदान्त संयोग सम्बन्ध नहीं, अपितु तादात्म्यसम्बन्ध मानता है. अत: शब्द अर्थमें समवेत है तथा अर्थ शब्दमें समवेत है.

श्रीरामानुजके विशिष्टाद्वैतवेदान्त मतमें ब्रह्म चिद्-अचिद्-विलक्षण है तथा चिद्-अचिद्-विशिष्ट है. परीक्षितको यहां शंका यह हो रही है कि शब्दसे वाच्य तो जाति-गुण तथा क्रिया होती हैं. परन्तु अजन्मा होनेके कारण ब्रह्ममें जातिका अभाव है क्योंकि जातिसे तात्पर्य है ''जायते इति जाति''. गौणी-लक्षणा शक्तियोंका प्रयोग भी इसलिए सम्भव नहीं है, क्योंकि गौणीसे गुण वाच्य बनते हैं. लक्षणाका प्रयोग भी कर नहीं सकते क्योंकि मूलमें 'साक्षात्' पद दिया गया है जिसका तात्पर्य अभिधाशक्ति होता है. अत: ब्रह्ममें जाति-गुण-कर्मवाची श्रुतियोंका साक्षात् चरण कैसे सम्भव है, ये परीक्षितकी शंका है. श्रुतियोंमें सृष्टिपरक वाक्य, सत्-असत्/चिद्-अचिद्परक वचनोंका तात्पर्य साक्षाद् ब्रह्मस्वरूपके निरूपकतया कैसे लिया जा पायेगा; ब्रह्मके चिद्-अचिद् विलक्षण होनेसे. चिद्-अचिद्ब्रह्मके विशेषण होनेसे परम्परया चरण सम्भव है, परन्तु साक्षात् चरणका तात्पर्य क्या है, ऐसी शंकाका स्वरूप रामानुजमतपरक टीकासे द्योतित हो रहा है.

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतबृहत्क्रमसन्दर्भ:

अथ श्रुतिस्तवस्य आकस्मिकप्रसंगे संगति: उच्यते. तत्र पूर्वोक्तानां गोपांगनानां त्रैविध्ये नित्यसिद्धाया: ऊढानूढारूपा: तास्तु अप्रकटएव वृन्दावने अप्रकटमेव विलसता श्रीकृष्णेन सह स्थिता: अप्रकटाएव सत्य: मुनिरूपास्तु कुरूक्षेत्रयात्रायां कृष्णेन सह संयुज्य तमेव आपु: ध्वस्तजीवकोशास्तमध्यगन्नि-त्युक्ते:. श्रुतिरूपास्तु श्रुतिरूपमेव आश्रित्य निगूढमेव

द्वारकाधिनाथमेव आश्रितवत्यः सममेतं स्तुवन्ति च इति तत्स्तवे निरूपयितव्ये सति तत्र पूर्वाध्यायान्ते ''न ब्रह्मणान् मे दयितं रूपम् एतत् चतुर्भुजम्'' (भाग.पुरा.१०।८६(=८३)।५४) इत्यादिभिः भक्तयोः श्रुतदेवबहुलाश्वयोः उपदेशं कृत्वा भगवान् द्वारका ययौ. तत्र भगवदुपदेशे तात्पर्यं चतुर्भुजम् इति. चतुर्भुजमेव न दयितम् ऐच्छिकात्. द्विभुजत्वं नराकृतिः सर्वेभ्यो मम दयितम् इति अर्थः. तत्र हेतुम् आह ''सर्ववेदमयो विप्रो सर्वदेवमयो हि अहम्'' (भाग.पुरा.१०।८६(=८३)।५४) अहं द्विभुजः सर्वदेवमयत्वाद् द्विभुजं...धः. एवंविध शक्तिमत् शब्दकदम्बात्मिकानां श्रुतीनां निविर्शेषे ब्रह्मणि कथं चरणम्. अतः सविशेषब्रह्मैव श्रुतिप्रतिपाद्यम् इति तदनुकूल्यहेतोः सरस्वतीप्रेरितस्यैव परीक्षितो मनसि विचार आसीत्. अहो भगवान् कृष्णएव ब्रह्मः. निर्गुणत्वं च तस्य प्राकृतगुणराहित्यादि-परं नहि सर्वज्ञत्वादिगुणराहित्यपरम्.....कथं अनिर्देश्ये निर्विशेषे निर्गुणे ब्रह्मणि श्रुतयः चरन्ति? कथम् इति सम्भावनापरं नतु प्रश्नपरम्.

श्रीकृष्णचैतन्यके मतका अनुसरण करनेवाले श्रीजीवगोस्वामी उपरोक्त टीकामें सर्वप्रथम कथाकी संगतिका विचार करते हैं कि वेदस्तुतिका प्रसंग यहां आया कैसे. भगवान् तो सर्वथा वृंदावनमें ही बिराजते हैं तथा गोपी भी नित्यसिद्धा-ऊढा-अनूढा प्रकारसे तीन तरहकी है. भगवान्के कुरुक्षेत्र पधारनेके समय जब सभी व्रजभक्त भी वहां पधारे तब ऋषिरूपा गोपीजनोंके देह तो वहीं छूट गए तथा वे भगवान्के श्रीअंगमें समाहित हो गए. तदुपरांत भगवान्के द्वारका पधारनेपर सभी श्रुतिरूपा गोपीजन भगवान्के श्रीअंगमें ही बिराजमान रहे तथा उन्होंने भगवान्की जो स्तुति की वह वेदस्तुति है जिसमें वासुदेव स्तुत्यर्थरूप है, उन्हें शब्दरूप श्रुति

जगा रही है. अतः यहां परीक्षितकी शंकाका स्वरूप यह है कि वेदस्तुतिका प्रसंग तो द्वारकामें ही हुआ, तो वहां श्रुतिरूपा गोपीजन कहांसे पधारें. चरित्रके कॉन्टेक्स्ट् सम्बन्धी परीक्षितका प्रश्न है. श्रीजीवगोस्वामी 'अनिर्देश्यता' एवं 'निर्गुणता' का अर्थ करते हैं, प्राकृतगुणरहित होना तथा भगवान्का अप्राकृत गुणोंसे सम्पन्न होना. अतः श्रुतियोंका साक्षात् चरण भगवान्के अप्राकृतगुणोंमें हो रहा है, प्राकृतगुणरहित भगवान्के होनेसे.

सत्यधर्म विरचित टीका (मध्वाचार्य प्रतिपादितवेदान्तानुसारी टीका)

''ब्रह्मन् ब्रह्मणि अनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः, कथं चरन्ति श्रुयतः साक्षात् सदसतः परे.'' इति एतद् इत्युक्तेतिहासादीनाम् अन्ततो गत्वा नित्यभूतश्रुतिमूलत्वसमासादिमानतानां हरेः विषयतया सुश्लोकैः श्रवणपुटैः पिबन्नित्यर्थप्रतिपादितायां स्वश्रुतानिर्देश्यत्वादिगुणे तथा गुणहीने कथम् एतद् धृतिः इति जातजिज्ञासान्व्यवहितावहितमानसाञ्जनान् उद्दिधीर्षुः स्वयं तज्ज्ञोऽपि शुकमुखतो वादयित्वा व्यंसयंस्तत्संशयं राजा पृच्छति ब्रह्मन् इति. पुरुषस्य पदाम्भोजसेवया तद्रतिं गता इत्यत्र 'पुरुष'शब्दवाच्यो न यादृशो-तादृशो भवति भवतिरस्कर्तेति 'सहस्रशीर्षा' इत्यादिपुरुषसूक्तोत्र ग्राह्यः. तथाच वेदाः पुरुषसूक्तगा इत्युक्तेः सएव सर्ववेदार्थः इति वक्तव्यम्. तत् किं मायाकवलितं शबलं ब्रह्म किंवा निर्गुणम्. न आद्यः. स्वयं बद्धो बद्धम् अन्यं कथं तनुयात्. वेदान्तवेद्यं शबलं निर्गुणन्त, मोचकम् इति मा उच्चैः वोचः. असंगत्वात्.....स्तावकाश्च वेदाः स्तवनं च विद्यमानगुणवर्णनं न प्रवृत्तिः सम्भवति इति अतः तत्स्वरूपं निरूपयति गुणवृत्तयः इति. गुणेषु सत्स्वेव वृत्तिः प्रवृत्तिः यासां ताः''.

नित्यभूता श्रुति जिनका प्रतिपादन करती है, ऐसे पुरुषके चरणोंकी सेवासे उत्तमगतिकी प्राप्ति होती होनेसे पुरुषके अनिर्देश्यत्वादिगुण होनेसे श्रुति उनका प्रतिपादन कैसे करती है, यह तो परीक्षितको ज्ञात होनेपर भी श्रीशुकदेवके वचनोंमें विषयका प्रतिपादन करवाना चाह रहे हैं. यहां परीक्षितको न तो प्रश्न है, न आक्षेप है. यहां 'पुरुष' शब्दसे तात्पर्य पुरुषसूक्तमें प्रतिपादित पुरुष. अर्थात् संपूर्ण वेदमें जिस पुरुषका निरूपण किया गया है, उस पुरुषका स्वरूप पुरुषसूक्तके वचनोंसे स्पष्टरूपसे प्रतिपादित ही होनेसे उसे ही यहां वाच्य जानना चाहिए. श्रीसत्यधर्म टीकामें कह रहे हैं कि ऐसे पुरुषसूक्त प्रतिपादित वेदान्तवेद्य अखिलब्रह्माण्डकर्ता ब्रह्म मायाशबलित कैसे हो सकता है? उन्हें बद्ध कहनेपर तो उनकी उद्धारकता भी नहीं रह जायेगी. अर्थात् श्रीशंकराचार्यद्वारा स्वीकृत अर्थ यहां नहीं है. वेदको ब्रह्मका स्तावक मानें तो उन वेदोंकी प्रवृत्ति ब्रह्ममें कैसे होगी, उतना विषय ही यहां परीक्षितको जिज्ञास्य नहीं, अपितु सम्यक्तया ज्ञात होनेपर भी शुकदेवजीके मुखसे प्रमाणित करवाना चाह रहे हैं.

जहां-जहां भी देवत्वका स्थापन किया जाता है, वहां सर्वत्र ही "**पुरुषएव इदं सर्वं यद्भूतं यच्चभव्यम्**" (ऋक्.संहि.१०।९०।२) वचनके अनुसार पुरुषकी सर्वभवनताको ही जानना चाहिए. यद्यपि चैतन्यसम्प्रदायमें श्रीधरस्वामिकी भागवतकी व्याख्याको मान्य किया गया है, "श्रीधरेर अनुगत करो व्याख्यान अभिमान छांडि भजो भगवान्" ऐसी चैतन्यमहाप्रभुकी आज्ञा है, तथापि श्रीजीवगोस्वामी वेदस्तुतिकी व्याख्या श्रीधरस्वामी प्रतिपादित शैलीसे नहीं करते हैं. श्रीजीवगोस्वामीके अनुसार भागवत परतत्त्वको ब्रह्म परमात्मा एवं भगवान् के नामोंसे प्रतिपादित करती है. कुछ लोग परतत्त्वके स्वरूपको केवल ब्रह्मतया जानते हैं, परन्तु वह ब्रह्म होनेके साथ

परमात्मा एवं भगवान् भी हैं. भगवान्में अन्तर्यामी होनेकी शक्ति होनेसे, उन्हें ही 'परमात्मा' कहा जाता है. वे भगवान् शुद्ध एवं परिपूर्ण ऐश्वर्यवाले और परमधाममें विलास करनेवाले हैं तथा मायाशक्तिको अपने वशमें रखते हैं. भगवान्की शक्तिके दो भेद हैं : (१) स्वरूपशक्ति तथा (२) सामर्थ्यशक्ति अन्तर्गत आती अन्य शक्ति. जैसे जीव होनेके नाते चैतन्यस्वरूप होना हमारी स्वरूपशक्ति है तथा इन्द्रियादि अन्य ऑर्गन्स्/इन्स्ट्रूमॅन्ट्स् जीवकी अक्वायर्ड सामर्थ्यशक्ति है. परमधाममें भगवान् अपनी स्वरूपशक्तिसे विलसित होते हैं. ऐसे भगवान्का अद्वयत्व इसलिए है क्योंकि आपकी शक्तिमें और आपमें कोई भेद नहीं है. अर्थात् शक्ति वस्त्वन्तर न होते हुए शक्ति तथा शक्तिमान में अभेद है.

श्रीवामनाचार्यके अनुसार परीक्षितके प्रश्नकी व्याख्या

श्रीवामनाचार्य कहते हैं कि भागवत अपने आपमें निगमकल्पतरुका निर्गलित फल होनेसे श्रुत्यर्थ ही भागवतके रूपमें फलित हुआ है. उस श्रुत्यर्थको स्फुट करनेके लिए ही निगमके सारतया वेदस्तुतिमें विषयका प्रतिपादन किया गया है. महर्षि व्यासने शुकदेव एवं परीक्षित के संवादको अतीत-अनागतके ज्ञाता होनेसे पूर्वमें ही जान कर उस संवादको लिख दिया था. परीक्षितके प्रश्नके आशयका निरूपण करते हुए श्रीवामनाचार्य कहते हैं कि श्रुति शब्दवृत्तिसे निर्गुण ब्रह्ममें चरण कैसे करेंगी, ये परीक्षितको उपस्थित होती शंका है. शाब्दबोध मात्र शब्दसे नहीं, अपितु वाक्यके अर्थबोधसे होता है. उन शब्दोंका परस्पर अन्वित होना भी आवश्यक है. अर्थात् शाब्दबोधमें सम्बन्धका अवगत होना आवश्यक ही है. बिना सम्बन्धके शब्द अर्थको कह नहीं सकते है. परन्तु ब्रह्म तो एकमेवाद्वितीय होनेसे उनमें सम्बन्धका अभाव है. ऐसे ब्रह्मके बारेमें शब्दसे इन्फॉर्मेशन् कैसे कन्वे हो पायेगी? यदि ऐसा कहें

कि "**सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म**" (तैत्ति.उप.२।१) आदि निर्गुणब्रह्मस्वरूप प्रतिपादिका श्रुतियोंका ब्रह्ममें चरण हो रहा है ऐसा कहना होगा क्योंकि मायाशबलित ब्रह्ममें सम्बन्ध प्राप्त हो जानेपर भी गुणव्यवधानके कारण साक्षात्कार सम्भव नहीं है; तथा **साक्षात् सदसतः परे** वचनमें 'साक्षात्' पदका प्रयोग किया गया है.

श्रीवामनाचार्य कहते हैं कि यदि सगुणके उपपादनद्वारा शाखाअरुन्धतिन्यायसे उपाधियुक्त ब्रह्मका ज्ञान हो सकता है, तो ब्रह्म सगुण होगा या निर्गुण? श्रीधर यह कहते हैं कि वर्णन सगुणका ही किया जा रहा है, परन्तु वामन कहते हैं कि श्रीधर यह भूल गए हैं कि शब्दकी स्थूलवृत्तिके साथ शब्दकी सूक्ष्मवृत्ति भी होती है जिनमें स्थूलवृत्तिसे सम्बन्धवान पदार्थका प्रतिपादन किया जाता है, तथा सूक्ष्मवृत्तिसे सम्बन्धरहित पदार्थको भी बोला जा सकता है. श्रीधरके मतमें आपत्ति उठाते हुए वामन कहते हैं कि यदि संपूर्ण श्रुति सगुण ब्रह्मका ही प्रतिपादन करती है, ऐसा स्वीकार लिया जाए, तो "**सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म**" आदि श्रुतियां भी सगुणब्रह्मपरक ही माननी होगी तथा इन गुणोंसे युक्त ब्रह्मको भी यदि सगुण मान लिया जाए, तो सत्यता चैतन्य एवं आनन्त्य के अभावमें तो ब्रह्म मिथ्या ही होगा. अतः निराकरण करते हुए श्रीवामनाचार्य कहते हैं कि श्रुतिने जब सत्यता-चैतन्य एवं आनन्त्य के गुणोंको ब्रह्ममें स्वीकारा है, तो उसका तात्पर्य है कि ये गुण ब्रह्ममें हैं; अतएव श्रुतिने उन गुणोंको कहा है. श्रीशंकराचार्य इस शंकाका समाधान इस तरह करते हैं कि सत्यत्वादिगुण ब्रह्मके स्वरूपात्मक गुण है तथा जगतकर्तृत्वादि गुण ब्रह्मके अक्वायर्डगुण है.

श्रीवामनाचार्य कहते हैं कि जैसे ब्रह्म चतुष्पाद है, उसी तरह वाणी भी चतुष्पाद है. परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी, ये चार

वाणीके स्वरूप हैं. परीक्षितद्वारा पूछे गए प्रश्नमें वे पूछना चाहते हैं कि श्रुति स्थूल एवं सूक्ष्म के भेदसे स्थूलश्रुति सूक्ष्मब्रह्मका निरूपण कैसे कर रही है? जैसे **''सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म''**में सूक्ष्मश्रुतिसे सूक्ष्मब्रह्मका निरूपण किया जा रहा है, अर्थात् वाणी शब्दब्रह्मस्वरूप है. जैसे ब्रह्म दुर्बोध है, उसी प्रकार शब्दब्रह्म भी दुर्बोध है. वह प्राणमय मनोमय एवं इन्द्रियमय है. तदनुसार वाणीके स्वरूपका निरूपण करते हुए श्रीवामनाचार्य कहते हैं कि परावाणी प्राणात्मिका है, पश्यन्ती वाणी मनोरूप है, मध्यमा भी मनोरूप है. वैखरी मुखरूप है. अत: श्रीवामनाचार्यके अनुसार वाणीके चार प्रभेदोंके अनुरूप ब्रह्मस्वरूपनिरूपणके भी ४ स्टान्डर्ड होते हैं तथा उन-उन शब्दवृत्तियोंके अनुरूप ब्रह्म वाच्य बनता है. प्रमाण प्रस्तुत करते हुए श्रीवामनाचार्य कहते हैं कि श्रीधरस्वामि जो कह रहे हैं कि ब्रह्म वाच्य नहीं बनता है, परन्तु वेदस्तुतिके अन्तमें शुकदेवजी स्वयं आज्ञा कर रहे हैं कि ''मैनें आपके(परीक्षितके) प्रश्नका उत्तर देते हुए निरूपण किया कि श्रुतियोंका चरण ब्रह्ममें कैसे होता है.'' अत: शुकदेवजीके वचनोंसे ही यह स्पष्ट होता है कि श्रुतियोंका चरण ब्रह्ममें होता है. अत: परा वाणीके स्टान्डर्डपर भले ही नहीं, परन्तु शब्दवृत्तिके पश्यन्तीके स्टान्डर्डपर वाणीका चरण ब्रह्ममें होता है.

अत: श्रीवामनाचार्य उपसंहारमें कहते हैं कि विद्या एवं अविद्या ब्रह्मकी शक्ति हैं तथा ब्रह्मविद्या यदि जीवमें हो, तो ब्रह्मका निर्देश किया जा सकता है तथा ब्रह्मविद्याके अभावमें ब्रह्मका निर्देश सम्भव नहीं है.

शुकदेवजीद्वारा दिये गए उत्तरकी व्याख्या-

श्रीशुक उवाच:

बुद्धीन्द्रियमनप्राणान् जनानाम् असृजत् प्रभुः।
मात्रार्थं च भवार्थं च आत्मने अकल्पनाय च।।

अर्थ : शुकदेवजीने कहा कि हे राजन्! नारायणने मनुष्योंके अर्थ धर्म काम और मुक्ति के निमित्त, बुद्धि इन्द्रिय मन और प्राण को रचा है.

श्रीधरस्वामीकृत व्याख्या (शांकरवेदान्तानुसारी)

मन बुद्धि प्राण इन्द्रियों की जो सामर्थ्य जीवमें आयी है, वो जीवकी स्वरूपभूतशक्तियां नहीं है. मलिनउपाधिसे युक्त जीवमें आरोपित है. उपाधिसे युक्त ब्रह्म सत्त्वप्रधान है. मलिनोपाधियुक्त जीवमें शुद्धउपाधिसे युक्त ईश्वरद्वारा मन-बुद्धि-प्राणादिके कम्पार्टमॅन्ट्स् क्रियेटेड् हैं. ज्ञानगृहीत करनेके फंक्शन्स् प्राप्त हो जानेसे उपाधिकी भी उतनी ही वेराइटीस् क्रियेट हो जाती हैं. जीवकी मलिन चेतनामें प्रकट इन उपाधियोंके कारण फंक्शन्स् कम्पार्टमॅन्टलाइज् हो जाते हैं. ये सगुण कार्य ईश्वरकृत माना जाता है. 'मात्रा' शब्दसे तात्पर्य है कि इन्द्रियोंसे विषय गृहीत नहीं होते, अपितु मात्रा ही गृहीत होती है तथा वो मात्रा भवार्थ है. मात्राओंके ग्रहण होनेसे जीव इन्स्टिगेट् होता है तथा उन्हींसे बंधते हुए जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है. उन्हीं कर्मोंके कारण जीवात्मा लोकान्तरमें जाती है तथा उस भवसे निवृत्त होनेके लिए मात्राकी कल्पनासे निवृत्ति प्राप्त करना आवश्यक है. धर्म-अर्थ-काम भी मात्रास्वरूप हैं तथा इनसे मुक्ति प्राप्त करनेकी इच्छा हो तभी मोक्ष प्राप्त होता है. मोक्ष भी यद्यपि मिथ्या है, परन्तु तात्पर्य है कि एक भ्रमकी निवृत्ति अन्य भ्रमको उत्पन्न करनेसे होती है.

उस सगुण ईश्वरने जीवके लिए सृष्टि प्रकट की है तथा उसने कृपालु हो कर जीवकी कल्पनाके चक्रमें एक भ्रममान-अकल्पित ऑब्जेक्ट् ॲड् किया है मोक्षका. अर्थात् जीवकी मलिनतामें भी

उन्होंने मोक्षकी पॉसिब्लिटीको क्रियेट् की है. जीवका अपनी उपाधिके ऊपर वश नहीं है, परन्तु ईश्वर सर्वशक्तिमान एवं सर्वज्ञ होनेसे उसका अपनी उपाधिके ऊपर वश चलता है. ऐसे ईश्वरका ही वर्णन श्रुतिमें किया जा रहा है. अर्थात् श्रुतिद्वारा वाच्य शुद्ध-निर्गुण ब्रह्म नहीं, अपितु सगुण ब्रह्म ही बन रहे है तथा अधिष्ठानभूत ब्रह्म, जिनमें श्रुतिनिरूपित पदार्थ पारमार्थतया नहीं है, वह ब्रह्म पर्यवसानवृत्तिसे वाच्य बनता है. अत: शब्दवृत्तिरूप वेद सगुणब्रह्मका ही प्रतिपादन करती है. श्रुतिका तात्पर्य ब्रह्ममें जड़-जीव पदार्थोंका निषेध करनेमें है. अत: मन-बुद्धि-प्राणादिकी उत्पत्ति सगुणब्रह्मने की. उसका प्रयोजन बताते हैं कि इन सबके क्रियेशन्से सगुणब्रह्म, वाच्य बन रहा है; परन्तु निर्गुणब्रह्म तो सर्वथा अवाच्य ही है. जो केवल पर्यवसानवृत्तिसे वाच्य बनता है.

श्रीवीरराघवकृत व्याख्या (रामानुजवेदान्तानुसारी)

मन-बुद्धि-प्राणादिकी उत्पत्ति ब्रह्मने क्यों की तथा इनके निरूपणसे ब्रह्म वाच्य कैसे बनते है, उसकी व्याख्या करते हुए श्रीवीरराघव कहते हैं कि भगवान् चिद्-अचिद्रूप नहीं हैं परन्तु चिद्-अचिद्विशिष्ट होनेसे उन्हें कॅरी करते हैं. जैसे बिना पिलर्के बिल्डिंग् खडी नहीं रह सकती, उसी तरह बिना भगवान्के चिद्-अचिद्की स्थिति सम्भव नहीं है. भगवान् चिद्-अचिद्को आधार देते हुए, उन्हें अपना सामर्थ्य प्रोवाइड् करते हैं. भगवान् चिद्-अचिद्विशिष्ट होनेसे चिद्-अचिद्द्वारा उन्हें बोला जा सकता है. भगवान्ने जगत्को मुक्तिके लिए बनाया है. 'भवार्थ' पदका तात्पर्य बताते हैं कि "त्रैवर्गिकश्रेयप्रदानेन-मुक्तिसाधननिष्पत्तये" अर्थात् त्रैवर्गिकश्रेयप्रदानद्वारा मुक्तिके साधनकी निष्पत्तिके लिए भगवान्ने जगत्को बनाया है. अर्थात् धर्म-अर्थ-काम वस्तुत: श्रेयरूप नहीं हैं, परन्तु उनका श्रेयार्थ प्रयोग यदि किया जाए तो वे उत्तम हैं. श्रीधरस्वामि अनुसार

जगत् मिथ्या है तथा इन मात्रार्थ-भवार्थ मिथ्या जगतसे निवृत्ति अपेक्षित है, परन्तु श्रीवीरराघव कहते हैं कि श्रेयार्थ इन्हीं त्रिवर्गोंका उपयोग करनेसे वे मुक्तिसाध्य बन जाते हैं तथा इसी हेतुसे भगवान्ने सृष्टिको प्रकट किया है. अतएव रामानुजमतमें श्रेयार्थ उपयोग करनेपर त्यागकी आवश्यकता नहीं बताई गई है. प्रेयार्थ उपयोग करनेपर वे अवश्य ही जन्म-मृत्युके कारणरूप बनते हैं.

श्रीसत्यधर्मकृत व्याख्या (माध्ववेदान्तानुसारी)

श्रीसत्यधर्म कहते हैं कि भगवान् साक्षात् अधोक्षज हैं तथा वेदान्तैकवेद्य हैं. ऐसे ब्रह्मके शबलित होनेकी कल्पना करना अप्रामाणिक है. ब्रह्मका अवाच्य होना भी अप्रसिद्ध ही है क्योंकि वह सर्ववेदोंसे वाच्य है **''सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्''**. (ब्र.सू.१।२।१) भगवान्ने इस मात्रात्मक सृष्टिका सृजन जीवकी मुक्तिके लिए ही किया है तथा मन-बुद्धि-प्राण-इन्द्रियादि उपकरण जीवको शास्त्रज्ञानहेतु ही प्रोवाइड् किये हैं. शास्त्राज्ञाका ज्ञान प्राप्त करनेके हेतुसे ही इन उपकरणोंकी प्राप्ति भगवान्ने जीवोंको करवाई है. प्राणके होनेसे मनमें संकल्पशक्ति आयेगी तथा उसीसे बुद्धिमें निश्चयात्मिकावृत्ति भी उदित होगी. भगवान्ने इन उपकरणोंको जीवको सद्ज्ञान हो, इसी हेतुसे प्रोवाइड् किये हैं, क्योंकि बिना उपकरणोंके केवल चेतनाके द्वारा तो धर्मसिद्धि हो ही नहीं सकती है. 'भव' शब्दका अर्थ उन्होंने मंगल-मोक्ष किया है तथा भवसे संसार अर्थ यदि लेना भी हो तो उस संसारको प्रकट करनेका पर्पज़् निवृत्ति ही स्वीकारना चाहिए. जैसे रोगका पर्पज़् अन्ततः निवृत्ति ही होती है. उसी प्रकार संसारका भी अंततः प्रयोजन निवृत्ति ही है. यदि सृष्टिको तथा सृष्टिगत जीवको प्राप्त हुए उपकरणोंको कल्याणार्थ जानोगे, तो मुक्तिकी प्राप्ति होगी.

द्वितीय श्लोककी व्याख्यामें श्रीसत्यधर्म कहते हैं कि केवल चेतनासे विषयका ग्रहण नहीं हो पानेसे उपकरणतया चैतन्यको

प्राण-मन-बुद्धि-इन्द्रियोंकी आवश्यकता रहती है, जो भगवान्ने उसे प्राप्त करवाये हैं. अत: जब सभी मात्राओंसे ब्रह्म ही वेद्य है, तो उनके वेदान्तवेद्य होनेमें क्या आपत्ति हो सकती है! शब्द भी एक मात्रा ही है तथा श्रुति रूपी शब्दमात्रा भगवत्सामीप्यकी सिद्धि करवानेवाली होनेसे ही उन्हें 'उपनिषद्' कहा जाता है. जो भी शब्द हरिका वाचक हो, वो परा विद्यारूप है तथा जो भी शब्द हरिका वाचक न हो, वो शब्द अपरा विद्या है. श्री एवं हरि के साथ शक्ति भी प्रलयोपरांत ब्रह्मके साथ ही रहती है तथा ब्रह्माजीके भी लीन हो जानेके बाद वो शक्ति भगवान्को जगाती है. हरिके साथ वो प्रकृति श्री तथा भूमिके रूपसे सर्वदा विद्यमान रहती है.

श्रीमध्वाचार्य द्वैतवादी होनेपर भी किसी न किसी प्रकारका यूनिफिकेशन् तो स्वीकारते ही हैं. क्योंकि फिलॉसॉफिकल् स्टॅन्ड्के साथ-साथ व्यावहारिक अवस्थामें भी यूनिफिकेशन्की आवश्यकता होती ही है, जैसे एक 'पशु' शब्दका प्रयोग करनेसे सभी पशुओंका ग्रहण कर लिया जाता है. अत: द्वैतवादी होते हुए भी श्रीमध्वाचार्यने शब्दकी अनेकरूपता मानी परन्तु अर्थकी नहीं मानी. उसी प्रकार श्रीशंकराचार्यने अद्वैतको सत्य माना परन्तु द्वैतको मिथ्या मान लिया.

श्रीमध्वाचार्य कहते हैं कि एक नामके करस्पॉडिंग् अनेक रूप होनेसे सरस्वती अनन्त है. यहां 'शक्ति' पद सामर्थ्यके अर्थमें नहीं, अपितु पत्नीके अर्थमें है. प्रकृति-श्री-भूमि इन तीन रूपोंसे शक्ति सर्वदा विष्णुके साथ रहती है. ब्रह्माजीके लयोपरांत स्वामिनीरूपा श्रुति, जो अन्तर्निहित है वो भगवान्को जगाती है क्रियेशन्के लिए.

शक्ति एवं शक्तिमान् के भेद-अभेदको दो प्रकारसे जाना जा सकता है, (१) भार्यारूपा शक्ति तथा (२) शक्तिरूपा भार्या.

सब्स्टेन्स्की यूनिटीको देखा जाए तो शक्ति ही भार्या है तथा ड्यूआलिटीको देखें, तो भार्या शक्तिरूपा बन जाती है. श्रीमध्वाचार्य भार्यारूपा शक्ति है ऐसा कह कर अर्थमें द्वैत निभाना चाहते हैं तथा शब्दमें अद्वैत निभाना चाहते हैं. शक्तिके रूपांतर श्री-भू-दुर्गा भी हैं, जो क्रमशः उत्पादिका पालिका एवं संहारिका शक्तियाँ हैं. अतः प्रकृति भगवान्की सामर्थ्यरूपा शक्ति है, श्री-भू-दुर्गा-श्रुति भार्यारूपा शक्ति है. वो श्रुतिरूपा शक्ति भगवान्को प्रलयोपरांत जगाती है कि आप अपने आत्माका प्रकाशन करो. भगवान् जब अपनी सामर्थ्यरूपा प्रकृतिशक्तिको रिलीज़् करते हैं तब जीवोंको बन्ध होता है, जिससे सृष्टि प्रकट हो पाती है, अन्यथा अपनेमें अन्तर्निहित प्रकृतिशक्तिके होनेपर सृष्टिकी उत्पत्ति असम्भव हो जायेगी. श्रीमध्वाचार्यने कुछ इस प्रकार अर्थ द्वैत एवं शब्दाद्वैत की व्यवस्थाको मॅनेज् किया है.

(२०)

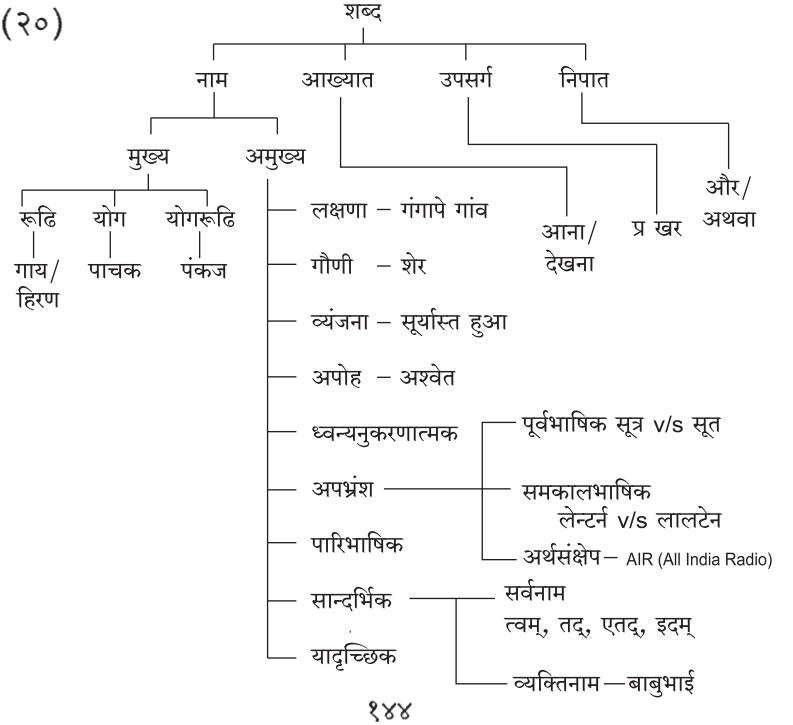

(२१)

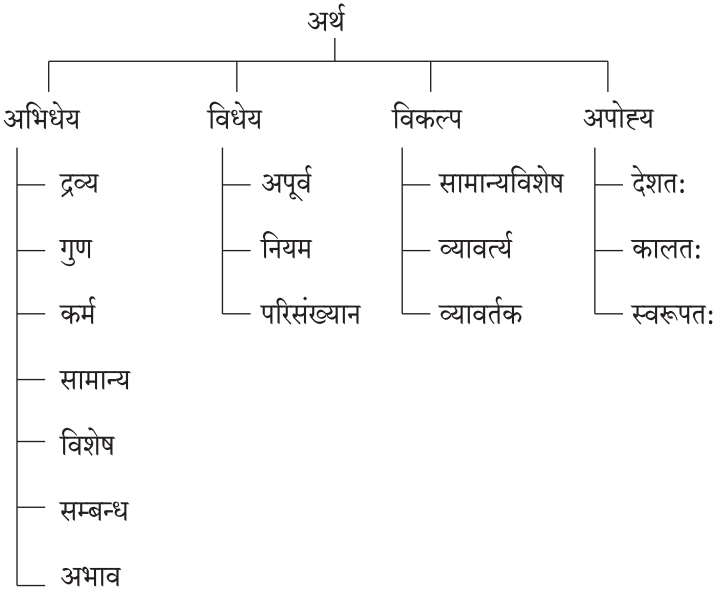

संक्षेपमें बोधसौकर्यार्थ शब्द और अर्थ के प्रकारभेद पर विहंगम दृष्टिपात उपकारक लगेगा.

महाप्रभुके अनुसार वेदस्तुतिकी सिनोप्सिस्

महाप्रभु अणुभाष्यमें आज्ञा करते हैं कि "**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**" (ब्र.सू.१।१।१)में ब्रह्म जिज्ञास्य नहीं है, क्योंकि ब्रह्मको न स्वीकारना सॅल्फ्-कॉन्ट्राडिक्टरी स्टेटमॅन्ट् है. श्रुतिप्रामाण्यवादी सूत्रकारके लिये जिज्ञास्य ब्रह्म नहीं, अपितु ब्रह्मकी क्रियाशक्ति एवं ज्ञानशक्ति हैं. ब्रह्मकी क्रियाशक्ति एवं ज्ञानशक्ति संदिग्ध इसलिए हुई क्योंकि कोई ब्रह्ममें क्रियाशक्तिका स्वीकार नहीं करते है तो कोई ज्ञानशक्तिका

स्वीकार नहीं करते. महाप्रभुने ज्ञानके स्वरूपका निरूपण तृतीयस्कंधमें ब्रह्मकी दशविधलीलाके परिप्रेक्ष्यमें किया है. जिसे समझ लेनेसे वेदस्तुति निरूपित ज्ञानमीमांसाका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है.

महाप्रभु आज्ञा करते हैं कि ज्ञान स्वभावतः त्रिक्षणावस्थायी नहीं है, अपितु प्राकृत पदार्थोंके साथ संयोगवशात् त्रिक्षणावस्थायी बनता है. ज्ञान अपने मूलस्वरूपमें स्थिर है. स्थिरता एवं अस्थिरता का को-ऑर्डिनेशन् मूलतः क्रियाशक्ति एवं ज्ञानशक्ति का को-ऑर्डिनेशन् है. इसी विषयको उद्धवने भी भगवान्के समक्ष उठाया था कि आप जिस प्रकृति एवं पुरुष का निरूपण कर रहे हो, परन्तु ऐसा कौनसा पदार्थ है कि जिसमें प्रकृति और पुरुष एकसाथ न हों. प्रत्येक तत्त्वमें दूसरे तत्त्व प्रविष्ट अनुभूत होते ही हैं. अतः भगवान्ने स्पष्ट किया कि कौनसा तत्त्व पहले तथा कौनसा तत्त्व बादमें, ये तो वक्ताकी विवक्षाप्रयुक्त भेद है. प्रकृति-पुरुषका द्वैत वैकारिक है, प्राकारिक नहीं. अतः ज्ञान त्रिक्षणावस्थायी नहीं है, अपितु प्रकृति डायनेमिक् शक्ति होनेसे त्रिक्षणावस्थायी प्रभाव उत्पन्न करती है. भगवान्में ये ज्ञान नित्य है, अन्य सभी पदार्थोंमें जन्य है. सृष्टिगत सभी चैतन्योंका ज्ञान ब्रह्मज्ञानका एक चतुर्थांश है तथा तदुपरांत ब्रह्ममें तीन चतुर्थांश ज्ञान और भी है, जो अनन्त है. जन्यज्ञान जीवगत इन्द्रियज्ञानसे जन्य है, जो अभ्याससे दृढ़ होता है. उस अभ्यासके पुनः सात्त्विक-राजस-तामस, ऐसे तीन भेद हैं. इस ज्ञानमें विहित देश-काल-द्रव्य-कर्ता-मन्त्र-कर्म साधक हैं, तथा निषिद्ध देश-काल-द्रव्य-कर्ता-मन्त्र-कर्म बाधक हैं. अंतःकरणकी शुद्धिके हेतु विहित देशादि हैं. इस ज्ञानके उद्दीपक शब्द एवं विषय है. ज्ञान वस्तुतः एक है किन्तु उसकी उत्पत्ति अनेकरूपोंमें होती है. महाप्रभुने ज्ञानकी उत्पत्तिको दशधा बताई है, जैसे भगवान्की लीला दशविध है.

महाप्रभु आज्ञा करते हैं कि आश्रयरूप ज्ञान प्रथम ज्ञान है जो परावाणीरूप है. वही आश्रयरूप ज्ञान जब खुदके प्रति आत्मप्रकाशनके स्थानपर दूसरेके प्रति आत्मप्रकाशन करनेकी इच्छा करता है, तब वो पश्यन्ती वाणीका स्टान्डर्ड बन जाता है. पश्यन्ती वाणीके ज्ञानके लेवलपर भी कोई विकार नहीं है, वो तो सर्वथा अविकृत है. वही प्रकाशरूप ज्ञान वेदरूप बनता है. भगवान्के ही धर्मीरूप ज्ञानका प्रकाशक धर्मरूप ज्ञान मध्यमाके लेवलपर वेदरूप बन जाता है. ये ज्ञान तो ब्रह्ममें चरण करेगा ही क्योंकि यह ज्ञान ब्रह्मके ही ज्ञानका मध्यमा वाणीके स्टान्डर्डका ज्ञान है: **''शब्दब्रह्मव्यतिरेकेण परब्रह्मणः प्रकाशन न भवति. शब्दब्रह्मणैव परब्रह्म प्रकाश्यते स्वप्रकाशमयि''** (सुबो.३।१२।४६). महाप्रभु आज्ञा करते हैं कि **''तदपि रूपं विराड्इव अनन्तम्''** (सुबो.३।४।१) अर्थात् जैसे ब्रह्मका रूप सृष्टिके लिए विराट हुआ, उसी प्रकार वेदरूप भी अनंत है तथा लौकिकज्ञान उसी ज्ञानका वैखरीरूप है. ये अवेरनेस् प्रमाता एवं प्रमेय, दोनोंमें है. ज्ञानमें स्थिरताके साथ-साथ अस्थिरता भी समुद्रतरंगकी तरह है, जिसके कारण ज्ञानमें स्मृति-भ्रम-स्वप्न-अज्ञानादि उत्पन्न होते हैं. ज्ञान कोग्नेटिव् फोर्स होनेपर भी उसमें डायनेमिक् फोर्स किसी न किसी रूपमें है ही. जिसके कारण ज्ञानमें अस्थिरता उत्पन्न होती है. इसी अस्थिरताके उद्दीपक समुद्र और पवन, चन्द्रमाकी तरह शब्द एवं विषय है. चतुर्विध अंतःकरण एवं इन्द्रियके कारण ये ज्ञान चतुर्विध हो जाता है. इन्द्रिय विषयके संसर्गमें आनेके बाद एक पर्सेप्शन् उत्पन्न करती है, जिससे ज्ञान उत्पन्न होता है. अन्ततः वही ज्ञान पंचविध हो जाता है.

विषय एवं आश्रय के द्वैगुण्यसे ज्ञानमें भी द्विगुणता प्रकट होती है. ज्ञानके भेद आश्रयभेदसे इस प्रकार होते हैं: जैसे मनका

ज्ञान संदेहात्मक होगा, मनके संकल्प-विकल्पात्मक होनेके कारण. अहंकार बुद्धिके साथ स्वप्नको देखता होनेसे स्वप्नज्ञान अहंकाराश्रित है. यहां 'अहंकार' पदका तात्पर्य तात्त्विक अहंकार है. निर्विषय ज्ञान चित्ताश्रित है, जो ज्ञानविषयक ज्ञान है. जिस बुद्धिको 'माया' कह रहे है. क्योंकि स्मृति आदिके रूपमें होते ज्ञानमें प्रकट विषयरहित जनरेट् होता है यह ज्ञान बुद्ध्याश्रित ज्ञान है. इस प्रकार चतुर्विध अंत:करण एवं इन्द्रिय सहकृत पांच प्रकारके ज्ञान विकृतज्ञान एवं पांच प्रकारके ज्ञान अविकृत ज्ञान हैं.

इस प्रकार ज्ञानकी दशविधता बताई गई है.

पूर्वोक्त निरूपणका तात्पर्य यह है कि जीवगतज्ञान भगवान्के ही ज्ञानका अविकृतपरिणाम है. परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीके भेदसे एक ही ज्ञान प्रवृत्त हो रहा है, जो अपने मूलस्वरूपमें स्थिर होनेपर भी क्रियाशक्तिके कॉम्बिनेशन्के कारण अस्थिरताको प्राप्त करता है. ज्ञान भी शब्दब्रह्मरूप है, जिसमें बिना अर्थके भी ज्ञानको उत्पन्न करनेकी शक्ति है. जैसे तत्त्वब्रह्ममें सृष्टिको उत्पन्न करनेकी शक्ति है, वही शक्ति शब्दब्रह्ममें भी है. अत्यन्त असत् अर्थ हो, तो भी शब्दमें अर्थको प्रकट करनेकी शक्ति है. एक ही ज्ञान अपने अंशरूपमें प्रकट होता होनेसे परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीके विविध स्टान्डर्डस्में चरण करता होनेसे "**कथं चरन्ति श्रुतय: साक्षात् सदसत: परे?**" प्रश्नकी सम्भावना ही नहीं रह जाती. ब्रह्मके सॅल्फ्-अवेरनेसरूप ज्ञान ही जब अनन्तविध रूपोंमें प्रकट होता हो तो प्रत्येक ज्ञान ब्रह्मगत-अन्तर्निहित होनेसे ब्रह्ममें चरण तो करेगा ही, जिसमें शंकाको कोई अवकाश ही नहीं है. जैसे अंशको अपनी अंशीको प्राप्त करनेमें कोई कष्ट नहीं होता, उसी प्रकार अंशरूप ज्ञान भी अपने अंशीको प्राप्त करके परिपूर्णताको

प्राप्त कर ही लेता है.

यह वेदस्तुतिके प्राग्धारणा प्राग्विवाद और प्राक्कथन बातें हैं. वेदस्तुतिकी विवेचनासे पहले अवगन्तव्य है.

तृतीय प्रकरण

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

वाचाभिधादिवृत्तिभिर्ब्रह्माविवृतमुच्यते ॥
मनीषिणामहंवृत्त्या लक्षितं तन्मतं पुनः ॥१॥
स्वात्मप्रकाशनीं लीलां चिकीर्षु तत्तु वाचि मे ॥
संनिधत्ता स्वतःस्फूर्तं श्रुतिगीतानिरूपितम् ॥२॥

वेदस्तुति वेदका प्रियेम्बल होनेसे वैदिक सिद्धांत सम्बन्धी सभी गुथ्थियां वेदस्तुतिके विषयको समझनेसे भी सुलभ हो सकती हैं. अतः वेदस्तुतिका प्रारम्भ ही इस प्रश्नसे होता है कि अनिर्देश्य ब्रह्मका निर्देश वेद कैसे हो सकता है? श्रीशंकराचार्यके पूर्व भी प्रकट हुए वेदान्तियोंसे लेकर अद्यावधि इस प्रश्नकी चर्चा सभी वेदान्ती करते आ रहे हैं! सभी वेदान्तियोंका किन्तु इस विषयमें मतैक्य है कि ब्रह्म शब्दैकग्राह्य तत्त्व है प्रत्यक्ष एवं अनुमानग्राह्य तत्त्व नहीं है. यथा जगतके प्रत्येक रूपको प्रदान किया गया नाम भी शब्दमात्रैकग्राह्य होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष एवं अनुमानसे नाम ग्रहीत नहीं हो पाता. अतएव जीवको जन्म ग्रहण करते ही सर्वप्रथम आत्मभान उद्देश्यतया (सब्जेक्टतया) होता है एवं अपने नामका बोध विधेयतया (प्रेडिकेटतया) अपने आत्मभानके सन्दर्भमें ही होता है. इस प्रक्रियाको समझाते हुए श्रीशंकराचार्य कहते हैं "**सर्वोऽपि 'आत्मा'स्तित्वं प्रत्येति...न कोऽपि न अहम् अस्मि इति प्रतीयात्**" (ब्र.सू.शां.भा.१।१।१) तथैव ब्रह्म भी शब्दमात्रावग्राही तत्त्वतया वेदान्तियों द्वारा सिद्ध है.

लोजिकल् अन्डर्स्टेन्डिंग्का नियम यह है कि प्रत्येक प्रपोज़िशन्में उद्देश्य-विधेय होते हैं प्रपोज़िशन् प्रकट करनेसे पूर्व यदि हमें सब्जेक्ट्का

ज्ञान न हो तो प्रपोज़िशन् निष्फल हो जाता है. अतः जब हम तत्त्वका विधान करते हैं तब हमें यह ज्ञान होना चाहिए कि ब्रह्म क्या है! इस तत्त्वका ज्ञान प्रत्यक्ष एवं अनुमानसे प्राप्त कर पाना संभव न होनेसे प्रमाणतया शब्दज्ञानको ही चुनना पड़ता है. तदुपरांत प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ब्रह्म उद्देश्य है या विधेय? क्योंकि यदि विधेय है तो उद्देश्यका ज्ञान सर्वप्रथम प्राप्त करना होगा. अतएव वेदस्तुतिका प्रारंभ इसी प्रश्नसे होता है कि अनिर्देश्य ब्रह्मका निर्देश कैसे हुआ! समस्या यह भी है कि निर्देश वेरिफायेबल् नहीं है हमें प्राप्त हुए किसी भी साधनके द्वारा! अतः ब्रह्म अपने निर्देश हेतु स्वयं ही विभक्त हुए.

जगतके कारणतत्त्व सम्बन्धी अनेक विचारकोंने अनेक वाद प्रस्तुत किये हैं. प्रस्तुत विषयमें पूर्वपक्षतया विचारणीय वाद विज्ञान एवं नैयायिकों द्वारा प्रस्तुत किया गया आरम्भवाद है जिसके अनुसार जगत अणुसे निर्मित है, अर्थात् आण्विक तत्त्वसे जगत प्रकट कॉन्स्टिट्यूटेड् है. (थियरी ऑफ् असेम्बिलिंग्). उपनिषद्का मत किन्तु इस विषयमें यह है कि ब्रह्म एक होमोजीनियस् तत्त्व होनेसे जगत ब्रह्ममेंसे परिणमित होता है, कॉन्स्टिट्यूटेड् नहीं. अतः ब्रह्ममेंसे जो कुछ भी प्रकट होगा, वह ब्रह्मके आत्मविभाजनसे ही प्रकट होगा. सत्-चित् एवं आनंद गुणधर्मवाले ब्रह्मने अतएव अपने आपको ज्ञान-ज्ञेय, ब्रह्म-बृहती, शब्द-शब्दजन्य निर्देश आदि विभागोंमें विभक्त कर लिया. कारणतत्त्व ब्रह्म स्वयं एक होमोजीनियस् तत्त्व होनेसे प्रत्येक विभक्त धर्म भी मूलावस्थामें तो ब्रह्मके ही गुणधर्मको प्रकट रखते होनेसे विभक्त होनेपर भी भिन्न नहीं कहलाते हैं. अतः ब्रह्मका सत्(ट्रूथ्) वाच्य बना एवं चित्(अवेरनेस्) वाचक बन गया. सत्के बारेमें ज्ञानवान् होना ही ज्ञानका प्रारम्भिक स्वरूप है.

उपनिषद् कहते है **''स 'अहं' नामा अभवत्''** (बृह.उप.१।४।१) अर्थात् ब्रह्मने भी सर्वप्रथम आत्मभान किया एवं तदुपरांत अपने अलावा किसी पदार्थ सम्बन्धी जिज्ञासा प्रकट की. अतएव उपनिषद्के मतके अनुसार किसीभी दूसरे प्रकारके तत्त्वसे जन्य जगत नहीं है. अतः जगत अधरनेस्की कोन्फ्लिक्ट्से जन्य नहीं है अपितु ब्रह्मकी आईनेस् एवं आत्मविभक्त पदार्थकी अधरनेस्के कोर्डिनेशन्से जन्य है. इस प्रकार ब्रह्मने अधरनेस्को प्रकट किये बिना अपनी आईनेस्को प्रकट किया. शब्द एवं अर्थ के बीच भी अधरनेस् नहीं है. अतः ब्रह्मके निर्देश सम्बन्धी प्रश्न यहां उपस्थित नहीं होता, क्योंकि ब्रह्म स्वयं ही शब्द एवं अर्थ के रूपमें आत्मविभाजित होता है. इसी कारणवश श्रीवामदेवको एवं अन्य ब्रह्मज्ञानियोंको भी ब्रह्मज्ञानके सिद्ध हो जानेपर समस्त ब्रह्माण्ड आत्मरूप प्रतीत हुआ. इस प्रकार ब्रह्मज्ञान किसी अन्य पदार्थके अस्तित्व सम्बन्धी अधरनेस्को डिज़ोल्व् कर देता है. अतः शब्द एवं अर्थ के रूपमें आत्मविभक्त ब्रह्म होनेसे वेदद्वारा ब्रह्मका निर्देश सम्भव है. जिस प्रकार बंद कली खिल कर पुष्प बन जाती है, तथैव ब्रह्म स्वयं ही जगतरूप हुआ. अतः ब्रह्मकी आईनेस्में जगत रिफ्लॅक्ट् होता है. जगदुत्पत्ति हेतु ब्राह्मिक आनंदका निकेत चेतना बनती है, चेतनाका निकेत सत् बनता है. इस प्रकार अपने ही रूपमें ब्रह्म जगततया अवस्थित हो जाता है. उसी प्रकार शब्द एवं अर्थ भी परस्परनिष्ठ होनेसे ब्रह्मका निर्देश सम्भव हो पाया !

ब्रह्म निर्देश्य है, इस प्रश्नके समाधानके बाद द्वितीय प्रश्न ब्रह्मजिज्ञासा सम्बन्धी उपस्थित होता है. वह प्रश्न यह है कि ब्रह्मके निर्देश सम्बन्धी संशयमें उत्पन्न हुआ संशय जिज्ञासाजन्य है या जिज्ञासा संशयजन्य है? संशय प्रकट होनेके दो कारण

हो सकते हैं, (१) अनध्यवसायके कारण संशय (२) सामान्यज्ञानके कारण होनेवाले संशय. सामान्यज्ञानसे तात्पर्य है कि पदार्थ विषयक प्रकारता सहित ज्ञान है किन्तु वह पदार्थ क्या है एवं कैसा है, इस विषयका ज्ञान न होनेसे संशय होता है. अनध्यवसायसे तात्पर्य है कि पदार्थको डिटर्मिनेट् न कर पाना. इस पक्षमें समस्या यह उपस्थित होती है कि ब्रह्मके लिए हम रिफरेबल् टर्म डिटर्मिनेट् नहीं कर पाते हैं. अर्थात् ब्रह्मका सामान्यज्ञान है किन्तु ब्रह्म क्या और कैसा है, निश्चित नहीं हो पाता है, यह संशयका स्वरूप है. सामान्यज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान है. अतः विषयके प्रारम्भिकज्ञानके बाद हम विचार द्वारा अपने मनमें विषयके स्वरूप सम्बन्धी विकल्प उत्पन्न कर देते हैं जो कोटिद्वयावगाहिज्ञान बन कर हमारे सामने आ जाता है, जिससे संशय होता है. विकल्प विषय सम्बन्धी अनेक सम्भावनाओंके रूपमें भी दृष्टिगोचर होते हैं, एवं कदाचिद् विषय सम्बन्धी निर्णयके रूपमें भी आते हैं. निर्विकल्पक ज्ञानकी तरह सामान्यज्ञान प्रत्यक्षज्ञानमें ही नहीं, अपितु अनुमान एवं शब्दज्ञान में भी होता है. पत्रावलम्बन ग्रंथमें निरूपण करते हैं कि शब्दजन्यज्ञान भी निर्विकल्पात्मक जैसा हो सकता है. जैसे 'घट' शब्दके श्रवणमात्रसे किसी पदार्थकी सत्ता होनेका प्रारम्भिक ज्ञान तो हो ही जाता है, चाहे उस पदार्थको पूरी तरह समझा न भी जा पाए तब भी. अर्थात् सत्का निर्विकल्पात्मक ज्ञान होता है. अतः सभी शब्द सत्के प्रतिपादक हैं.

भगवान् बुद्ध एवं श्रीशंकराचार्य **सन्मात्रग्राहीप्रत्यक्षतावाद**का स्वीकार करते हैं. इस वादके अनुसार इन्द्रिय मात्र विषयको ग्रहीत करती है. तदुपरांत बुद्धि उस इन्द्रियग्रहीत विषयको डिटर्माइन् करती है. बुद्धिद्वारा डिटर्माइन् किया गया होनेसे पदार्थ अयथार्थ सिद्ध होता है क्योंकि बुद्धि विषयका ज्ञान तत्प्रकारक न करवाते हुए अपने

दृष्टिकोणानुसार ही करवाती है. महाप्रभु किन्तु इस वादका स्वीकार नहीं करते हैं एवं कहते हैं कि बुद्धि विषय सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने हेतु इन्द्रियोंके ऊपर निर्भर ही होती है. कुमारिल भट्ट भी कहते हैं कि सर्वप्रथ विषयका ज्ञान हमें यद्यपि निर्विकल्पक होता है, किन्तु विषय सम्बन्धी विचार यदि थोड़े क्षणों तक किया जाए तो स्वयं ही विकल्प हमारे मस्तिष्कमें प्रकट हो जाते हैं. अतः विकल्पोंका विचार बुद्धिद्वारा प्रदत्त मिथ्या किंवा अयथार्थ नहीं माना जा सकता क्योंकि बुद्धि निश्चयात्मिका वृत्ति होनेसे इन्द्रियोंद्वारा प्रदत्त पदार्थको मात्र डिटर्माइन् करती है.

श्रुति द्वारा प्रतिपादित शब्द निरर्थक नहीं हो सकते, अत: शब्दश्रवणोपरांत मनन एवं निदिध्यासन के द्वारा ही अर्थावग्राही बन पाते हैं. प्रारम्भिककालमें हुए शब्दके निर्विकल्पक ज्ञान मात्रसे अर्थबोध हो पाना सम्भव नहीं है. अतएव वेदस्तुतिमें प्रकट की गई जिज्ञासाका स्वरूप यह उपस्थित होता है कि श्रीशंकराचार्य एवं भगवान बुद्ध के मतमें सन्मात्र ग्रहण होता होनेसे ब्रह्म विकल्पतया आएगा. क्योंकि "ब्रह्म सत् है" या "सत् ब्रह्म है की नहीं?", यह जिज्ञासा उपस्थित होती है. सत्ताका विकल्प ब्रह्म किंवा सत्ता ब्रह्मका विकल्प? ब्रह्मके बारेमें निर्विकल्पक ज्ञान होनेसे सत्ताके बारेमें विकल्पतया ज्ञान होगा या सत्ताके निर्विकल्पक ज्ञानमें ब्रह्म विकल्पतया उपस्थित हो रहा है? सन्मात्रग्राहीप्रत्यक्षवादमें यदि सत्ता पहले ग्रहीत न होती हो तो ब्रह्म मिथ्या सिद्ध होगा परन्तु महाप्रभु सन्मात्रग्राहीप्रत्यक्षवादका स्वीकार न करते होनेसे आपके विचारमें यह समस्या उपस्थित नहीं होती है. अतः वेदस्तुति अन्तर्गत उपस्थित की गई जिज्ञासाका फॉर्मेट् यह बनता है कि "ब्रह्म है" यह जिज्ञासा है या "जो है वो ब्रह्म है या नहीं" यह जिज्ञासाका स्वरूप है! ब्रह्मको वर्बलाईज़् कैसे किया जाए

यह वेदस्तुतिके सम्बन्धमें विचारणीय पक्ष है.

वेदस्तुतिका प्रारम्भ इस जिज्ञासाके साथ होता है कि ब्रह्म निर्गुण होनेसे श्रुतियोंके द्वारा निर्दिष्ट कैसे हो सकता है? **''ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात्सदसतः परे?''** उपरोक्त जिज्ञासामें प्रमुखतया विचारणीय विषय दो हैं : (१) ब्रह्मका निर्गुण होना (२) श्रुतियों द्वारा ब्रह्मका निरूपण. 'कथं' शब्दका सामान्य अर्थ; कैसे, यह होता है. किन्तु संस्कृत भाषामें 'कथं' शब्दके ५ अर्थ बताए गए हैं. (१)सम्भावना (२)प्रकार (३)संभ्रम (४)प्रश्नार्थक (५)असम्भावना. अतः उपरोक्त अर्थोंमेंसे **कथं चरन्ति श्रुतयः** वाक्यमें 'कथं'का तात्पर्य क्या सोचा जाए, यह भी विचारणीय है. क्योंकि ब्रह्म निर्गुण होनेसे, शब्द(श्रुति) गुणरहित पदार्थका निरूपण करनेमें कैसे सक्षम हो पायेगी?

ब्रह्मकी निर्गुणता सम्बन्धी विचार अतएव प्रसक्त बनता है. द्वैतवादी विचारधाराके प्रभाववश सामान्यतया सभी बुद्धिवादी यह सोचते हैं कि ब्रह्मके मनुष्यसे भिन्न होनेसे मनुष्यके गुणोंका विचार ब्रह्ममें नहीं किया जा सकता है. ब्रह्म/ईश्वरमें मानवीय गुणोंका विचार ईश्वरका मानवीयकरण प्रतीत होता है परन्तु वेदान्त, इस विषयका विचार भिन्न प्रकार करता है कि ब्रह्मके ही समस्त सृष्टिके प्रति अभिन्ननिमित्तोपादानकारण होनेके कारण मनुष्यमें दिखलाई देनेवाले सभी गुण भी ब्रह्मसे ही अनुभ्रान्त हैं. अतः सभी गुण ब्रह्मके आनंद स्वरूपमें अपरिमित नित्य अप्राकृत एवं निरुपाधिक अवस्थामें रहते हैं. यही गुण प्रकृतिद्वारा जगतको उत्पन्न किए जानेपर जीवमें अनित्य प्राकृत उपाधि बन कर आते हैं अतः समस्या गुणोंमें नहीं अपितु उन गुणोंकी प्राकृतावस्थामें है. अतः ब्रह्ममें इन गुणोंका होना दोषरूप नहीं है. वेदान्त मनुष्यमें आई

हुई ब्रह्मकी शक्तियोंको विद्याशक्ति द्वारा ॲन्हान्स् करनेकी भावनासे उन गुणोंका ब्रह्म एवं मनुष्य के बीच साम्य स्वीकारता है, न कि ब्रह्मके मानवीयकरणकी भावनासे. महाप्रभु कहते हैं कि ब्रह्मके सभी गुण उनके आनंदधर्मके गुण हैं. मनुष्यमें वे सभी गुण निरानन्द प्राकृत बन कर किस प्रकार आते हैं उस प्रक्रिया पर दृष्टिपात करना प्रस्तुत विषयके सन्दर्भमें आवश्यक है.

(२२)

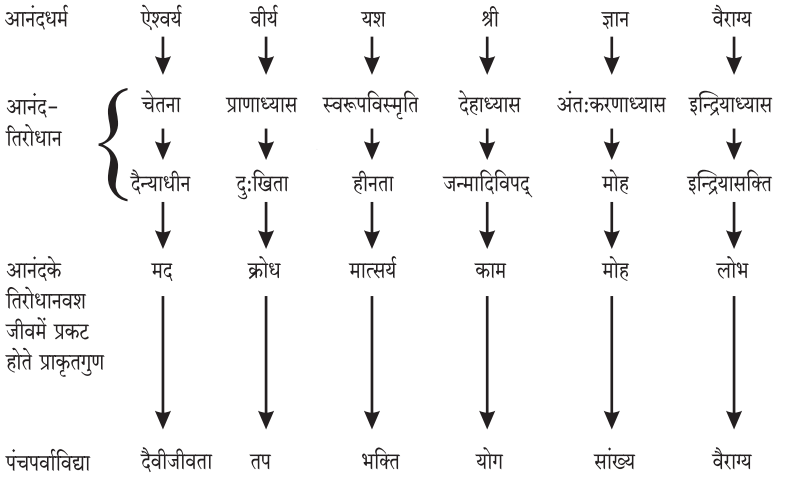

जीवके व्युच्चरित होनेपर आनंद गुणधर्मके तिरोधानसे जीवमें सदंश एवं चिदंश रह जाते हैं. चिदंशके कारण जीव अनुभूतिक्षम बनता है. अतः आनंदके तिरोधानवश प्रकट हुई प्राकृतउपाधि एवं तज्जन्य विकारका प्रभाव जीवके ऊपर पडता है, जिसके कारण काम क्रोध लोभ मोह मद मात्सर्य औपाधिक अनित्य प्राकृत जीवको प्राप्त हुए सूक्ष्म एवं स्थूल शरीरमें प्रकट हो जाते हैं. इन विकृतियोंकी निवृत्ति करने हेतु पंचपर्वा विद्याके मार्ग भगवान्ने प्रकट किये हैं इन विद्यासाधनोंके अनुसरणद्वारा जीव पुनः उस आनंदकी प्राप्ति होते उद्यत होते हुए प्राकृतावस्थाका अतिक्रमण

कर लेता है. अतः निष्कर्षतया यह समझा जा सकता है कि ब्रह्म अपने अपरिमित आनंदधर्ममें इन अप्राकृत गुणोंको धारण करते होनेसे प्राकृतताका स्पर्श भी ब्रह्मको हो पाना संभव नहीं है, यथा श्रीगुसांईजी सर्वोत्तमस्तोत्रके मंगलाचरणमें आज्ञा करते हैं **''प्राकृतधर्मानाश्रयम् अप्राकृतनिखिलधर्मरूपमिति निगमप्रतिपाद्यं यत् तत् शुद्धं साकृति स्तौमि''** (सर्वो.स्तो.१)

प्रस्तुत संदर्भमें अब शंका यह उपस्थित होती है कि श्रुतियोंमें शब्द द्वारा किए जाते निरूपणमें ब्रह्मके गुणोंका निरूपण किया जा रहा है, किंवा जीवके गुणोंका? जिज्ञासामूलक संशय है किंवा संशयमूलक जिज्ञासा है, यहां संशयके कारण प्रकट होती जिज्ञासा नहीं है, प्रत्युत जिज्ञासामूलक संशय है. क्योंकि ब्रह्मकी सत्ताके विषयमें तो कोई संशय होना संभव ही नहीं है. अतः ब्रह्मकी सत्ता कैसी है, इत्याकारिका जिज्ञासा वेदस्तुतिके उपक्रमतया प्रस्तुत की गई है. बुद्धिका अतएव यह पॉज़िटिव् फन्क्शन् है नॅगेटिव् नहीं.

भगवान् बुद्ध एवं श्रीशंकराचार्य **सन्मात्रग्राहिप्रत्यक्षवाद**का स्वीकारते होनेसे उनके मतके अनुसार इन्द्रियगम्य पदार्थ सम्बन्धी बुद्धिद्वारा प्रकट किये गए विकल्प अयथार्थ होते हैं. इस स्थितिमें ब्रह्म प्रत्यक्ष एवं अनुमान से गोचर पदार्थ नहीं है, शब्दैकगम्य है. अतः शब्दके ग्रहण होनेपर अर्थका विचार बुद्धि ही करती होनेसे श्रीशंकराचार्यके मतके अनुसार श्रुत्यर्थसे सिद्ध होनेवाला ब्रह्म भी अयथार्थ सिद्ध होगा. किन्तु वेदस्तुतिके सन्दर्भमें यदि इस विषयका विचार किया जाए तो महाप्रभुके अनुसार ब्रह्मका अयथार्थ होना सम्भव नहीं है अतः सत् ब्रह्म है या नहीं इस जिज्ञासाका उत्तर सन्मात्रग्राहिप्रत्यक्षवादके अनुसार दिया नहीं जा सकता है.

यही समस्या अनुमान एवं प्रत्यक्ष प्रमाणको ले कर भी उपस्थित होगी. क्योंकि जैसे प्रत्यक्षसे गम्य पदार्थका भी बुद्धिके द्वारा विचार किया जाए तो अयथार्थ सिद्ध होगा, वैसे अनुमानगम्य विषय भी अयथार्थ ही सिद्ध होगा क्योंकि अनुमान तो व्याप्ति आधारित ज्ञान है. एवं विचारकर्ता मनुष्य स्वयं उस व्याप्तिका विषय होनेसे व्याप्तिज्ञानको वॅरिफाय् करनेमें समर्थ नहीं है. ऐसी स्थितिमें आनुमानिक विकल्प प्राप्त ही नहीं हो पायेगा. अतः इस संशयका निवारण अनुमानसे भी संभव नहीं है.

अतः शब्दप्रमाणसे ही ब्रह्मका विचार किया जाना आवश्यक है. ऐसी स्थितिमें अब वेदस्तुतिका प्रारम्भ इस जिज्ञासाके साथ होता है कि सत् पूर्वसिद्ध है किन्तु ब्रह्म सत् है या नहीं. ब्रह्म तत्त्वसे तात्पर्य एक ऐसे पदार्थसे है कि जो सभी पदार्थोंको अन्तर्निहित रखता हो एवं किसी भी पदार्थकी सत्ता ब्राह्मिकी सत्ताके बाहर न हो (धेट विच् एक्सक्लूड्स नथिंग्.) अतः श्रुतियोंद्वारा किये जानेवाले निर्देशमें ब्रह्म उद्देश्य है एवं ब्रह्मको उद्देश्य बनाते हुए श्रुतियोंद्वारा विधान किया जा रहा है.

अब प्रश्न श्रुतियोंके शब्द द्वारा किये जाते विधानके बारेमें उपस्थित होता है. शब्दशक्तिका निरूपण करते हुए भर्तृहरि कहते हैं **''अत्यन्तासत्यपि हि अर्थे ज्ञानं शब्दं करोति च''** (श्लो.वार्ति.१।१।२।६) अर्थात् जिस पदार्थके प्रत्यक्ष होनेकी कोई संभावना ही न हो, ऐसे असत् पदार्थका भी ज्ञान शब्दके द्वारा तो हो सकता है. अतः अब जिज्ञासाका स्वरूप ऐसा भी हो सकता है कि जिस सत्का निरूपण श्रुति ब्रह्मतया कर रही है, वह पदार्थ क्या है? अथवा उन विधानोंके सन्दर्भमें उद्दिश्य तत्त्व क्या है? क्योंकि इन विधानोंको प्रत्यक्ष एवं अनुमान से वॅरिफाय् कर पाना सम्भव

न होनेसे ओब्जेक्टिव् जिज्ञासा यहां प्रकट हो रही है. अर्थात् शास्त्रके द्वारा ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, यह सिद्ध होनेपर भी क्या सचमुचमें ब्रह्म जैसा कोई तत्त्व शब्दका कोरस्पोन्डिंग् ओब्जेक्ट् है भी या नहीं? अतः **कथं चरन्ति श्रुतयः** इत्याकारिका जिज्ञासा ब्रह्मज्ञानकी मॅथडोलोजीकी जिज्ञासा है. अतः 'कथं'से तात्पर्य प्रकारप्रश्नार्थक माना जायेगा. अतः प्रकार विषयक यह जिज्ञासा है. वैसी स्थितिमें जिज्ञासाके दो स्वरूप उभरते हैं **(१) ब्रह्म जिज्ञास्य हो भी सकता है या नहीं?** क्योंकि ब्रह्मकी सत्ता विषयक कोई संशय है ही नहीं.

वाचस्पति मिश्र संशयके स्वरूपको समझाते हुए कहते हैं **''अथ यद् असन्दिग्धं अप्रयोजनं च न तद् प्रेक्षावत् प्रतिपित्सागोचरः''** (ब्र.सू.शां.भा.भामती.१।१।१) अर्थात् जिस विषयके बारेमें हमें संशय ही न हो, एवं जिस विषयका ज्ञान प्राप्त करनेके कोई प्रयोजन सिद्ध न हो, उस विषयको जाननेकी जिज्ञासा जीवको हो ही नहीं सकती है. अतः द्वितीय प्रश्न इस ब्रह्मजिज्ञासाके विषयमें यह उपस्थित होता है कि **(२) ब्रह्मके स्वरूपको जाननेसे हमारा कौनसा प्रयोजन सिद्ध हो रहा है? यदि मुक्ति प्राप्त करनेकी आकांक्षावाले जीवको ब्रह्मजिज्ञासासे कोई लाभ होता भी हो तब भी इस संपूर्ण सृष्टि एवं श्रुतियोंका ब्रह्मका निरूपण करनेसे कौनसा प्रयोजन सिद्ध हो रहा है.**

ब्रह्मके स्वरूप विषयक जिज्ञासा सम्बन्धी सभी आचार्योंका भिन्न-भिन्न मत है, जिसे समझना प्रस्तुत विषयके सन्दर्भमें आवश्यक है.

(१) श्रीशंकराचार्य : जीवको अपनी सत्ताके विषयमें कभी कोई संशय नहीं होता है क्योंकि आत्मभानसे स्वयंकी सत्ता स्वतःसिद्ध

है. अतः ब्रह्मजिज्ञासाका स्वरूप यह बनता है कि **अहमास्पदं ब्रह्म न वा?** अर्थात् मैं ब्रह्म हुं या नहीं, यह जिज्ञासा है. क्योंकि **तत्त्वमसि** इत्यादि श्रुतिवचनोंसे ब्रह्म एवं आत्माका ऐक्य सिद्ध होता है. अतः श्रीशंकराचार्यके मतके अनुसार वेदस्तुतिमें प्रकट की गई जिज्ञासाका स्वरूप यह है कि श्रुतियोंमें आत्माका निरूपण ब्रह्मतया किया गया है या नहीं. श्रीशंकराचार्य आइडियालिज़म्का स्वीकार करते होनेसे वे आत्माकी सत्ताके सन्दर्भमें ही सभी पदार्थोंकी सत्ताका विचार करते हैं. अतः उनके मतमें ब्राह्मिकी सत्ताका विचार भी जीवके परिप्रेक्ष्यसे प्रस्तुत किया जा रहा है.

(२) श्रीभास्कराचार्य : के अनुसार जिज्ञासाका स्वरूप यह है कि क्या ब्रह्मकी मात्र सत्ता है या वे ब्रह्म स्वयं कारण एवं कार्य है. श्रीभास्कराचार्य रियालिज़म्के दृष्टिकोणसे ब्रह्मजिज्ञासाकी ऐसी व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं.

(३) श्रीरामानुजाचार्य : चित् एवं अचित् की सूक्ष्मावस्था एवं स्थूलावस्था; दोनों ही हैं. ब्रह्म चित् एवं अचित् की इन दोनों ही अवस्थाओंके धारक है या नहीं; यह जिज्ञास्य है. स्थूलकी उत्पत्ति सूक्ष्ममेंसे होती है. अतः सूक्ष्मके धारक ब्रह्म है या नहीं, यह जिज्ञास्य है. जब सूक्ष्म चित्-अचित् स्थूल रूपोंमें परिवर्तित हो रहे हैं, तब यह घटना ब्रह्ममें कैसे घटित होगी यह जिज्ञासा वेदमें प्रस्तुत की गई है.

(४) **श्रीमध्वाचार्य :** शंकराचार्य जैसे ब्रह्म एवं जीव का ऐक्य बता रहे हैं, ऐसा होना सम्भव नहीं है. क्योंकि हमारी अहंता परिमित है एवं ब्रह्म अपरिमित है. अतः जीवकी सीमित अहंतामें ब्राह्मिक अहंताको समाविष्ट कर पाना सम्भव ही नहीं है. क्योंकि यदि जीवकी सत्ता आत्मबोधद्वारा स्वतःसिद्ध हो, एवं जीव तथा

ब्रह्म एक ही हो, तो ब्रह्मजिज्ञासा हो ही क्यों रही है? अतः जिज्ञासा होनेसे यह सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्म एवं जीव भिन्न तत्त्व हैं. अतः तत्सम्बन्धी जिज्ञासा है.

(५) श्रीपतिभगवत्पादाचार्य (श्रीकर) : श्रीपतिभगवत्पादाचार्य द्वैताद्वैत-वादी-विशेषाद्वैतवादी हैं. उनके तत्त्वसिद्धान्तके अनुसार 'वि'से तात्पर्य है शिव एवं 'अद्वैत'से तात्पर्य है शिव और जीव का एकत्व. किन्तु जैसे नदियां समुद्रसे ही प्रादुर्भूत होनेके बावजूद भी कुछ समय पर्यंत समुद्रसे व्यतिरिक्त होती हैं, वैसे जीव भी अपनी सांसारिक अवस्थामें शिवसे व्यतिरिक्त होता है. परन्तु शिवकी आराधनाद्वारा जीव शिवके साथ अद्वैतभावापन्न भी फलावस्थामें हो जाता है. ये एक साईक्लिकल् पेटर्न है. जीव एवं शिव के इस सम्बन्धविषयक जिज्ञासा ही वेदस्तुतिमें प्रस्तुत की जा रही है.

वेदस्तुतिके उपक्रमतया परीक्षितद्वारा प्रस्तुत की गई जिज्ञासामें ब्रह्मकी अनिर्देश्यताका विचार दो प्रकारसे किया जा सकता है (१) "**ब्रह्म अनिर्देश्य है**" प्रतिज्ञामें ब्रह्म उद्देश्य है एवं अनिर्देश्यता विधेय है (२) "**अनिर्देश्य ब्रह्मका प्रतिपादन श्रुतिवचनों द्वारा कैसे हो सकता है?**" प्रकारान्तरसे देखें तो द्वितीय वाक्यमें 'अनिर्देश्यता' विशेषणतया समझी जाती है एवं 'ब्रह्म' नाम बन रहा है. परन्तु दोनों ही पक्षोंसे विचार करनेपर, दोनों ही वाक्योंमें सेल्फ्-कोन्ट्राडिक्शन् दिखलाई दे रहा है. अतः 'अनिर्देश्य'पदमें 'अ'से क्या तात्पर्य लिया जाए यह विचारणीय है. संस्कृतमें निषेधार्थक 'अ'के छह अर्थ बताए गए हैं "**तत्सादृश्यं तदभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः**". महाप्रभु शब्दके मूल अर्थको छोड़ कर लक्षणा-गौणी वृत्तिका भी उपयोग शास्त्रकी व्याख्यामें

करना उपयुक्त नहीं मानते. मूल अर्थको रिटेन् करते हुए तात्पर्यान्वेषण करना उचित लगता है. जिज्ञासान्तर्गत प्रस्तुत किए गए संशयमें संशयके दो प्रकार सम्भव हैं (१) उत्थित संशय (२) उत्थापित संशय. वेदस्तुतिमें ब्रह्मकी अनिर्देश्यता सम्बन्धी प्रस्तुत किया गया संशय 'उत्थापित संशय' है जैसे अधिकरण विचारमें विषय विवेचना हेतु संशय उत्पन्न किया जाता है.

महाप्रभु वेदस्तुतिमें निरूपित विषयका उपक्रम करते हुए सुबोधिनीमें आज्ञा करते हैं **''शब्दार्थयोः उत्तमयोः सम्बन्धो यादृशो मतः...तदर्थं पूर्वपक्षादिसिद्धान्तफलम् ईर्यते''** (भाग.सुबो.का.१०।८४।१-८) उत्तम शब्द एवं अर्थ के सम्बन्धकी विवचेना श्रुतिगीतामें की जा रही है. परीक्षितद्वारा उत्थापित प्रश्न उपपत्तिकी जिज्ञासावश है, संशयमूलक नहीं. भगवान् स्वयं अनंतगुणपूर्ण होनेसे आपके द्वारा धारण किये गए ऐश्वर्यादि षड्गुण भी अनंत ही हैं. एक ही तत्त्व **हरि (फलरूप), ब्रह्म (प्रमेयरूप) एवं श्रुति(प्रमाणरूप)** इन त्रिविध रूपोंमें विभक्त हुआ होनेसे तीनों ही रूप अनंत हैं. न्याय एवं सांख्य मत यह कहते हैं कि जिस इन्द्रियके द्वारा जिस किसी विषयका ग्रहण किया जाता हो वो इन्द्रिय एवं विषय एक ही तत्त्वसे निर्मित हुए माने जाने चाहिए. तत्त्वैक्यके अन्वेषणके प्रति यह प्रारम्भिक विचार है. इसी विमर्शको केन्द्रित करते हुए यह भी सिद्ध होता है कि यदि श्रुति ब्रह्मका निर्देश करनेमें सक्षम बन रही है, तब इस स्थितिमें ब्रह्म एवं श्रुति में भी तत्त्वैक्य है.

अतएव सृष्ट्युत्पत्तिके उपक्रमतया ब्रह्म सर्वप्रथम अपनी अनंत शक्तियोंका विभाजन करते हैं जो प्रलयकालीन सुषुप्तिकालमें ब्रह्मके भीतर एकवद्भावसे अवस्थित थी. उन शक्तियोंका विभाजन ब्रह्ममें सर्वप्रथम होता है. शक्तिविभाजनके बाद गुणोंको प्रकट करते हुए

कार्यरूप सृष्टि प्रकट होती है. सभी शक्तियोंके विभाजित हो जानेसे शक्तियोंका कार्यक्षेत्र एवं विमर्शक्षेत्र भी भिन्न-भिन्न हो जाता होनेसे सभी शक्तियां अपने-अपने प्रकारसे ब्रह्मके स्वरूपको इंगित करती है. अतः ब्रह्मको प्राप्त करने हेतु मार्ग भी विभिन्न देखे जा सकते हैं. प्रत्येक जीवको अतएव दिशाज्ञानपूर्वक इन विभिन्न शक्तियों द्वारा निर्दिष्ट ब्रह्मके स्वरूपका उसी परिप्रेक्ष्यमें विचार करना होगा.

भागवत भगवान्के इन गुणोंका निरूपण करते हुए कहती है **''युक्तं भगैः स्वैः इतरत्र च अध्रुवैः स्वएव धामन् रममाणम् ईश्वरम्''** (भाग.पुरा.२।९।१६) अर्थात् भगवान् ऐश्वर्यादि गुणोंको अपने रूपके आनन्दधर्मतया धारण करते हैं. इन गुणोंके द्वारा ही भगवान् व्यवहार्य बनते हैं. इन गुणोंमें अनौपाधिक ज्ञानकी बिल्ट-इन् सिस्टम् है. जीवको प्राप्त शक्ति किंतु औपाधिक है. अतः कभी-कभी ब्रह्मको प्राप्त करनेके मार्गोंका अन्वेषण जीव अपनी औपाधिक शक्तियोंके परिणामवश नहीं भी कर पाता है.

''स्वसृष्टमिदमापीय शयानं सहशक्तिभिः'' (भाग.पुरा.१०।८७(=८४)।१२) कारिकामें भागवत कहती है कि भगवान् अपनी फलशक्ति प्रमाणशक्ति एवं स्वरूपशक्ति के आत्मनिरोधके साथ प्रलयकालमें शयन करते हैं. शयनसे तात्पर्य है तिरोहित होना. सृष्टिको उत्पन्न करनेकी इच्छासे भगवान् क्रमशः सर्वप्रथम अपने स्वरूपका आत्मविभाजन, पश्चात् शक्तियोंका आविर्भावपूर्वक विभाजन, गुणोंका विभाजन एवं अन्तमें कार्यसृष्टिमें नाम-रूप-कर्मोंका विभाजन करते हैं. अतः जब कार्यसृष्टि अन्तर्गत प्रकट हुए जीव, ब्रह्मके साथ व्यवहार(इन्टरेक्शन्) करनेकी इच्छा करते हैं तब कार्यसृष्टि एवं भगवान् के बीच गुणोंका व्यवधान होनेसे उन गुणोंके द्वारा ही भगवान्के साथ

व्यवहार कर पाना जीवके लिए सम्भव बन पाता है. परंतु भगवान् यदि जीवोंके साथ व्यवहार करना चाहें, तो भगवान् ही स्वयं कार्यरूप हुए होनेसे उस फ्रेमवर्कमें प्रवेश कर सकते हैं. परंतु जीव स्वेच्छया किसी फ्रेमवर्कमें प्रवेश करने हेतु सक्षम नहीं है. अतः वह गुणोंके माध्यमसे ही भगवान्के साथ व्यवहार्यमाण हो पाता है. अतः गुणवृत्तिवाले शब्द जब भगवान्का वर्णन उन गुणोंके माध्यमसे व्यवहार करता है, तभी जीव अपने औपाधिक ज्ञानके फ्रेमवर्कमें ब्रह्मको जान पाने हेतु सक्षम बन पाता है. अतः जीवके औपाधिक ज्ञानके फ्रेमवर्कमें गुणवृत्तिवाले शब्द प्रवेश करते हैं. तदर्थ ही वह परमतत्त्व अपने आपको प्रमाण प्रमेय एवं फलके रूपमें त्रिधा विभक्त करता है.

सभी शक्तियोंको आत्मकेन्द्रित करते हुए ब्रह्म जब शयन कर रहा था तब एक शक्ति उस समय भी जागृत थी जो ब्रह्मको जगा रही है. उस जागृत शक्तिका निरूपण करते हुए महाप्रभु आज्ञा करते हैं **''अष्टात्रिंशे श्रुतीनां हि यथा वाच्यं बृहद् भवेत् तदर्थं पूर्वपक्षादिसिद्धान्तफलमीर्यते''** (भाग.सुबो.का.१०।८४।८) अर्थात् २८ कारिकाओंसे श्रुति स्तुति कर रही है. ये २८ कारिकाएं २८ तत्त्वोंको निरूपित कर रही हैं. अतः प्राकृतरूपा शक्ति जागृत थी जो ब्रह्मको जगा रही है. यही वेदस्तुतिका प्रतिपाद्य विषय है.

परीक्षितके प्रश्नका तात्पर्य समझाते हुए महाप्रभु सुबोधिनीमें आज्ञा करते हैं **''तत्र किं बृहद् वेदानां तात्पर्यार्थः आहोस्विद् वाक्यार्थं इति अखण्डएव वाक्यार्थः इति मतम् अज्ञात्वा - पृच्छति''** (भाग.सुबो.१०।८-४।१) शब्दकी चार वृत्तियां हैं-**(१)अभिधा (२)लक्षणा (३)गौणी (४)तात्पर्य.** परीक्षितके प्रश्नमें **कथंसे** तात्पर्य यह है कि वेदोंद्वारा

किया जाता ब्रह्मका निर्देश शब्दकी किस वृत्तिद्वारा किया जा रहा है. परीक्षितका तात्पर्य यह नहीं है कि ब्रह्मका निर्देश श्रुतियोंद्वारा सम्भव है या नहीं. **''सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीर नामानि कृत्वा अभिवदन् यदास्ते''** (तैत्ति.आर.३।१२।७) श्रुतिवचन कहता है कि मूलमें संपूर्ण वेद मात्र ब्रह्मका ही प्रतिपादन करना चाहता है किन्तु जब वह ब्रह्म नाम-रूप-कर्मणा विभक्त हो गया, तब श्रुति उन नाम-रूपोंके सन्दर्भसे ब्रह्मका प्रतिपादन करती हैं. अपनी परिच्छिन्न एवं औपाधिक दृष्टिसे हम किन्तु उस प्रतिपादनको ब्रह्मका निर्देश न जान कर नाम-रूपोंका निर्देश समझ लेते हैं. तिरोहित नाम-रूपोंको प्रकट कर देनेपर ब्रह्म उन्हींके द्वारा वाच्य बन जाता है. इस सिद्धांतको अधोनिर्दिष्ट तालिकाद्वारा समझा जा सकता है.

(२३)

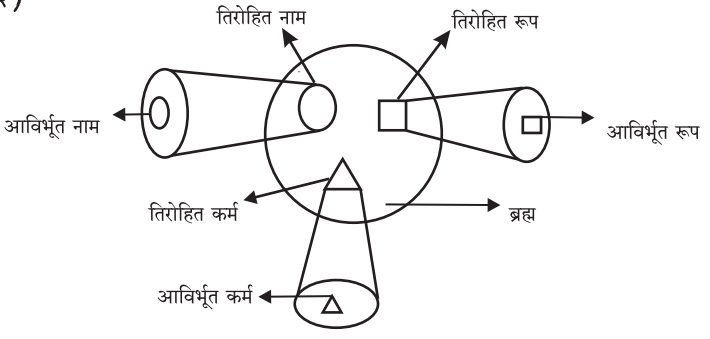

अतः परीक्षितकी जिज्ञासाका स्वरूप यह है कि ब्रह्म शब्दकी किस वृत्ति द्वारा वाच्य बनता है. श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि ब्रह्म विधिमुखसे वाच्य नहीं हो सकता मात्र निषेधवृत्तिसे ही वाच्य बनता है क्योंकि सनमात्रग्राहिप्रत्यक्षवादके अनुसार शब्दशक्ति द्वारा निर्दिष्ट ब्रह्मका विचार यदि बुद्धि स्वतन्त्रतया करने लगेगी तो बुद्धि द्वारा विचारित विषय अयथार्थ सिद्ध हो जायेगा. अतः

श्रीशंकराचार्य ब्रह्मको अवाच्य सिद्ध करना चाहते हैं. किंतु महाप्रभु यहां प्रश्न यह उपस्थित करते हैं कि श्रीशंकराचार्यके अनुसार **ब्रह्मशब्दसे** तत्त्व अवाच्य है या ब्रह्म तत्त्वतया स्वयं ही अवाच्य पदार्थ है, इस विषयकी स्पष्टता उनके पक्षसे की जानी आवश्यक है. श्रुति निरूपित विषयमें अब **वाक्यार्थ अखण्डार्थ एवं तात्पर्यार्थ** मेंसे किस अर्थका चयन करते हुए ब्रह्मको समझा जाए, यह प्रश्न अब परीक्षितकी जिज्ञासाके सन्दर्भमें विचारणीय बनता है.

(१) **वाक्यार्थ** - वाक्य अन्तर्गत स्थित उद्देश्य एवं विधेय के ज्ञानद्वारा अर्थबोध होना.

(२) **अखण्डार्थ** - अर्थखण्डोंका त्याग करते हुए अखण्डार्थ ग्रहण करना.

(३) **तात्पर्यार्थ** - वाक्यार्थको छोड़े बिना वक्ताके भावानुसार अभिप्रेतार्थ ग्रहीत करना.

अतः महाप्रभुके मतके अनुसार परीक्षितद्वारा उपस्थित की गई जिज्ञासाका स्वरूप यह है कि उपरोक्त प्रक्रियाओंमेंसे किस प्रक्रियाका अवलम्बन करते हुए श्रुतिनिर्दिष्ट ब्रह्मके स्वरूपको जाना जाए.

अब महाप्रभु आज्ञा करते हैं "**पदानां संकेतः लौकिकएव इति अलौकिके संकेताभावात् तैः भगवत्सम्बन्धिनः पदार्थाः अलौकिकाः कथं स्मारयितव्याः ?**" (भाग.सुबो.१०।८४।१) महाप्रभु यहां संशय उपस्थित करते हुए आज्ञा करते हैं कि लौकिक पदोंका संकेत भी लौकिकार्थके बारेमें ही होता है. ब्रह्म अलौकिक पदार्थ होनेसे ब्रह्मके बारेमें संकेत सम्भव नहीं है. जबकि शब्दोंकी मर्यादा यह है कि वे संकेत द्वारा ही अर्थबोध करवाते हैं. अतः लौकिक शब्दोंद्वारा ब्रह्मका निर्देश कैसे होगा? अर्थात् शब्दप्रयोगोंकी मर्यादाके कारण ब्रह्मकी वाच्यता सम्बन्धी प्रश्न उपस्थित हो रहा है. परीक्षितद्वारा

प्रस्तुत जिज्ञासामें पूर्वपक्ष बताते हुए महाप्रभु आज्ञा करते हैं **''लौकिकत्वे ब्रह्मणो लौकिकत्वापत्तिः तत्सम्बन्धात्. अतः पूर्वपक्षे साधनपरत्वमेव वेदानाम्''** (भाग.सुबो.१०।८४।१) अर्थात् वेद तो ब्रह्मको प्राप्त करने हेतु साधनोंका निरूपण करता है. ब्रह्मका प्रतिपादन नहीं करता है. अतः ब्रह्म श्रुतिनिर्दिष्ट कैसे माना जायेगा? महाप्रभु आज्ञा करते हैं कि **''अतः स्वप्रकाशमेव ब्रह्म...पूर्वपक्षः''** (भाग.सुबो.१०।८४।१) अर्थात् ब्रह्म अलौकिक शब्दोंसे निर्देश्य है लौकिक शब्दोंसे नहीं. अतः **अनिर्देश्य**पदमें **अ**पदसे तात्पर्य अलौकिक लेना है. क्योंकि श्रुतिके शब्द लौकिक शब्द न हो कर ब्रह्मकी ही प्रमाणशक्तिका आविर्भाव है. अतः अलौकिक ब्रह्म अपनी ही अलौकिक शब्दात्मिका शक्तिसे अवश्य ही निर्दिष्ट हो सकता है. इस प्रकार ब्रह्मकी विवेचनामें महाप्रभु द्वैतमूलक वाक्यार्थ रूपी खण्डार्थ, अद्वैतमूलक अखण्डार्थ; इन दोनों ही प्रक्रियाओंका त्याग करते हुए तादात्म्यमूलक तात्पर्यार्थकी प्रक्रियाका चयन करते हैं.

अतः २८ तत्त्वोंकी विवेचनामें परायण प्राकृतिक श्रुतियोंद्वारा निर्दिष्ट तत्त्वोंमें अन्तःस्थित उपादान कारणरूप ब्रह्ममें उन श्रुतियोंके निर्देशका तात्पर्य समझना चाहिए. क्योंकि जीव अपने औपाधिक ज्ञानकी मर्यादामें रह कर ही ब्रह्मको समझनेमें सक्षम बन पायेगा अर्थात् ब्रह्म जीव हेतु स्वयं ही जीवकी औपाधिक-परिच्छिन्न ज्ञानकी मर्यादामें प्रकट होता है. वह इस प्रकार प्रकट हो सकता है क्योंकि उसके लिए औपाधिक और उपहित का भेद नहीं है. हम हमारी औपाधिक बुद्धिसे समझते हैं कि श्रुतियोंके रूपमें कोई शब्दराशि हमारे सन्मुख प्रकट हुई है. किंतु ब्रह्मके परिप्रेक्ष्यसे तो ब्रह्मने स्वयं अपनी ही शब्दशक्तिको आत्मविभाजनद्वारा हमारे सामने प्रकट किया है. अतः ब्रह्म-हरि एवं श्रुति में परस्पर कोई भेद नहीं है. अतः शब्दशक्तिके द्वारा ब्रह्मका निर्देश हमारे

सीमित साधनोंके द्वारा असीमितको प्राप्त करनेकी प्रक्रिया है. यद्यपि ब्रह्मका **अयं घट-अयं पट**की तरह निर्देश सम्भव नहीं है किंतु यथोक्त प्रक्रियाके बोधद्वारा श्रुतिके निर्देशमें तात्पर्यार्थतया ब्रह्मको अवश्य ही समझा जा सकता है. इसी प्रक्रियाको श्रुतिने **''एक विज्ञानेन सर्वम् इदं विज्ञातं भवति''** (मुण्ड.उप.१।१।३) कहा है.

महाप्रभु ब्रह्मके बुद्धिग्राह्य होनेके संदर्भमें आज्ञा करते हैं **''अवाच्यः सर्वशब्दानां बुद्ध्या वाच्यो निगद्यते ततः समानधर्मेण व्यवहारो निरूप्यते''** (भाग.सुबो.का.१०।८४।९) अर्थात् ब्रह्म यद्यपि सभी शब्दोंके द्वारा अवाच्य है, किन्तु उन शब्दोंके तात्पर्यके ज्ञानपूर्वक बुद्धि द्वारा ब्रह्मको समझ पाना सम्भव है. अतएव परीक्षितकी जिज्ञासाका उत्तर प्रदान करते हुए श्रीशुकदेव कहते हैं **''बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् जनानाम् असृजत् प्रभुः मात्रार्थं च भवार्थं च आत्मनेऽकल्पनाय च''** (भाग.पुरा.१०।८४।२) अर्थात् ब्रह्मने स्वयं ही जीवको बुद्धि प्राण मन इन्द्रिय अंतःकरण आदि उपकरण प्रदान किये हैं कि जिनके उपयोगसे वह श्रुतियोंके तात्पर्यार्थको ग्रहीत करते हुए ब्रह्मके स्वरूपको समझ पानेमें सक्षम बन पाए. महाप्रभु प्रस्तुत कारिकाकी सुबोधिनीमें पूर्वपक्षीके सन्मुख प्रश्न उपस्थित करते हुए आज्ञा करते हैं **''किं ब्रह्म श्रुतिसिद्धं त्वया अवगतं विचार्यत्वेन निर्दिश्यते आहोस्वित् स्वबुद्ध्या परिकल्पितम्''** (भाग.सुबो.१०।८४।२) अर्थात् कौनसे ब्रह्मको पूर्वपक्षी अनिर्देश्य सिद्ध करना चाहता है? श्रुतिद्वारा निरूपित ब्रह्मको या स्वबुद्धिसे कल्पित ब्रह्मको? दोनों ही पक्षोंमें दोष है क्योंकि ब्रह्मका ज्ञान ही जिस श्रुतिके द्वारा प्राप्त हो रहा है, उसी श्रुतिद्वारा निर्दिष्ट ब्रह्मको अनिर्देश्य स्वीकारनेपर तो पूर्वपक्षी स्वयं अपने ही ज्ञानपर प्रश्नचिह्न लगाते हुए अप्रसिद्धकी कल्पना कर रहा है. एवं स्वबुद्धिसे कल्पित ब्रह्मकी यदि चर्चा की जा रही हो, तो यह तो चर्चाका विषय हो ही नहीं सकता है क्योंकि वेदान्तमें

ब्रह्मका निरूपण जिस प्रकारसे किया गया है, उसी प्रकार स्वीकारा जाना चाहिए. अतः महाप्रभु आज्ञा करते हैं **''तत्र मूलभूतं सर्वव्यवहारातीतमपि स्वयमेव स्वशक्तिरूपेण स्वधर्मरूपेण स्वकार्यरूपेण च जातम् इति श्रुतिः प्रतिपादयति स्वयमेव च वक्ति''** (भाग.सुबो.१०।८४।२) अर्थात् ब्रह्म स्वयं प्रलयकालमें सर्वव्यवहारातीत तत्त्वतया स्थित होनेसे जब स्वयं ही शक्तिरूपसे धर्मरूपसे एवं कार्यरूपसे व्यवहार्यमान बनना चाहता है, तब उस ब्रह्मके इन तीनों ही स्वरूपोंको अभिन्न जानते हुए स्वीकारने चाहिए. क्योंकि इन त्रिविध रूपोंमें ब्रह्म बना ही जीवोंके ज्ञान हेतु है. अतः ब्रह्मने बुद्धिका निर्माण किया कि जिससे जीव खण्डोंमें विभक्त प्रतीत होते तत्त्वको जान कर तात्पर्यार्थको समझते हुए ब्रह्मके अखण्ड स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करनेमें सक्षम हो पाए. बुद्धिके अतिरिक्त इन्द्रिय भी प्रदान की है कि जिससे जीव परम तत्त्वके दर्शन, सेवा में भी तत्पर हो पाए. जागतिक रूपोंके तात्पर्यतया ब्रह्मके रूपको बुद्धिद्वारा ग्रहीत करते हुए इन्द्रियोंद्वारा सेवापरायण होना चाहिए. यही इन उपकरणोंके निर्माणका प्रयोजन है. ज्ञानी बुद्धिद्वारा ब्रह्मके स्वरूपको जानकर संतुष्ट हो जाता है किंतु भक्त महात्म्यज्ञानपूर्व इन्द्रियोंके द्वारा भी उस परमतत्त्वके साथ जुड़नेकी चेष्टा करता है. बुद्धि एवं इन्द्रियों की ही तरह प्राणकी शक्ति भी जीवोंमें वीर्य गुणधर्मके तिरोधानके स्थानपर प्रदान की गई है. इन्हीं प्राणोंमें जीवकी सभी शक्तियां विद्यमान होती हैं. अतः भक्तिमें प्राणोंका उपयोग सभी शक्तियोंका भगवान्में विनियोग करनेके हेतुसे है.

श्रीशुकदेव कहते हैं **''सैषा ह्युपनिषद् ब्राह्मी पूर्वेषां पूर्वजैर्धृता श्रद्धया धारयेद्यस्तां क्षेमं गच्छेद् अकिञ्चनः''** (भाग.पुरा.१०।८७(=८४)।३) अर्थात् यह ब्राह्मी विद्या है जिसे धारण करनेपर पूर्वमें ज्ञानियोंका

कल्याण हुआ है. अतः यदि जीव भी इस ज्ञानको धारण करे तो उसका भी कल्याण हो सकता है. तदुपरांत नारदादि द्वारा क्रमशः हुए ज्ञानकी परम्पराके उद्धवका निरूपण करनेके बाद वेदस्तुतिके उपक्रमतया प्रलयकालीन स्थितिमेंसे जागृत होते ब्रह्मका निरूपण किया जा रहा है. **''स्वसृष्टम् इदम् आपीय शयानं सह शक्तिभिः तदन्ते बोधयांचक्रुस्तल्लिंगैः श्रुतयः परम्''** (भाग.पुरा.१०।८७(=८४)।१२) अर्थात् उत्पत्ति स्थिति एवं लय की प्रक्रियाके तीन खंड ब्राह्मिक दृष्टिसे नहीं हैं. अतः प्रलयकालमें ब्रह्म इन सभी खंडोंको अपने भीतर विलीन करके शयन करता है. प्राकृत श्रुतियां फिर ब्रह्मको जगा रही हैं. कार्यकोटि कारणकोटि एवं स्वरूपकोटियों में निर्दिष्ट ब्रह्मको स्वरूपप्रतिपादिका श्रुतियां नहीं जगा रही हैं, किंतु कार्यनिरूपक प्राकृत श्रुतियां जगा रही हैं. स्वरूपप्रतिपादिका श्रुति जीवोंके साथ इन्टरेक्ट् कर नहीं सकती हैं, क्योंकि उस मूलरूपको समझ पाना औपाधिक ज्ञानवाले जीवोंके लिए सम्भव ही नहीं है. अतः **''नेति नेति''** श्रुतिके द्वारा निर्दिष्ट ब्रह्म जीवके लिए अगम्य है. अतः कार्यकोटिका निरूपण करनेवाली श्रुतियोंके द्वारा निर्दिष्ट ब्रह्मको समझ पाना कार्यरूपोंके व्यवहार्य होनेसे जीवोंके लिए सम्भव बन पाता है. अतः श्रीशंकराचार्यद्वारा स्वीकृत **अपोहवाद**की प्रक्रियासे ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त कर पाना असम्भव है. इस प्रकार ये श्रुति ब्रह्मका लिंग है. लिंगसे तात्पर्य है ''लीनं गमयति इति लिंगम्'' कार्यप्रतिपादिका अलौकिक शब्दरूपा श्रुति इस प्रकार ब्रह्मात्मक नाम-रूप-कर्मोंके निर्देशपूर्वक तात्पर्यार्थतया अलौकिक ब्रह्मका निर्देश करती हैं.

परीक्षितके प्रश्नमें **''ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात्सदसतः परे?''** (भाग.पुरा.१०।८७(=८४)।१) 'श्रुतयः'पद बहुवचनका प्रयोग है एवं 'निर्गुणे'पद एकवचनका प्रयोग है. अर्थात् श्रुतियोंद्वारा ब्रह्म वाच्य बन सकता है या नहीं,

इस प्रश्नके पीछे भी यह सिद्धांत स्पष्टरूपसे प्रतिपादित किया जा रहा है कि सभी श्रुतियोंकी एकवाक्यता तो होनी ही चाहिये तभी ब्रह्म तत्त्वके निरूपणमें परायण हो पायेंगे जैसे नैयायिकोंके मतमें सभी इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहीत होनेवाले विषय भिन्न-भिन्न होनेपर भी आत्माबोधसे जीवको अनुव्यवसायात्मक अनुभव **''मैंने अनुभव किया''** इत्याकारक ही होता है. इस प्रकारकी अनुभूतिमें जैसे हमारे आत्मबोधकी एकता प्रतीत होती है, उसी प्रकार सभी श्रुतियोंका प्रतिपादनीय विषय भिन्न-भिन्न होनेपर भी ब्रह्मनिरूपिका होनेके अर्थमें एकार्थता सिद्ध होती है.

अतः महाप्रभु इन एकवाक्यतापन्न श्रुतियोंके अर्थके रूपमें ब्रह्म वाक्यार्थ अखण्डार्थ एवं तात्पर्यार्थ की प्रक्रियाओंमेंसे किस प्रकारसे ग्रहीत होगा; इत्याकारक जिज्ञासाका स्वरूप वेदस्तुतिके सन्दर्भमें प्रतिपादित कर रहे हैं.

(१)वाक्यार्थ (भेदवादी प्रक्रिया)

(२४)

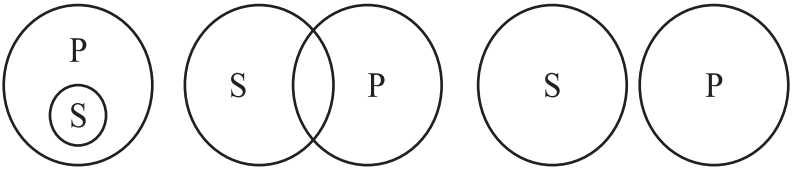

उद्देश्य एवं विधेय के सम्बन्धका बोध वाक्यार्थद्वारा होता है. यह तीन तरहसे शक्य है. प्रथम पक्षमें विधेयके अन्तर्गत उद्देश्य होता है. द्वितीय पक्ष यह भी सम्भव है कि उद्देश्य एवं विधेय एक-दूसरेसे स्वतंत्र ही हों एवं तृतीय विकल्पमें यह भी सम्भव है कि उद्देश्य एवं विधेय एक-दूसरेसे जुडे हुए होनेपर भी स्वतंत्र हों. इस प्रकार द्वैतवादी प्रक्रियासे वाक्यार्थबोध होता है.

(२) अखंडार्थ (आत्यन्तिक अभेदवादी प्रक्रिया)
(२५)

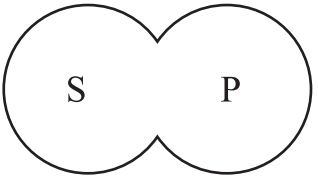

अर्थात् उद्देश्य एवं विधेय एक-दूसरेसे जुडे हुए हों परंतु दोनोंका ही कोई तात्पर्य न हो. श्रीशंकराचार्यके मतके अनुसार इस प्रक्रियामें द्वैतके अध्यारोप और द्वैतका अपवाद करना अखंडार्थका स्वीकार करना, जिसे वे 'प्रसज्य-प्रतिषेधवाद' एवं 'अध्यारोप-अपवाद' कहते हैं. अर्थात् द्वैतका ज्ञान द्वैतका स्वीकार करने हेतु प्राप्त न करना, परंतु द्वैतके प्रतिषेधार्थ करना. महाप्रभु एवं श्रीमध्वाचार्य ने भी किसी अर्थमें अखण्डार्थका स्वीकार किया है, किन्तु श्रीशंकराचार्यके अनुसार नहीं. यथा श्रीमध्वाचार्य **महातात्पर्यवृत्तिमें** अखण्डार्थका स्वीकार करते हैं, किन्तु **संकुचितवृत्तिसे** खण्डार्थ स्वीकारते हैं. क्योंकि महातात्पर्यवृत्तिसे श्रीमध्याचार्यका कहना है कि चाहे ध्वनि हो या शब्द, किसी भी प्रकारसे जीव एवं प्राणी कुछ कहना चाह रहे हैं. अतः इन्फॉर्मेशन् कन्वे करना ध्वनि एवं शब्द का सामान्यधर्म है. इस तात्पर्यवश वे 'एकार्थवाचक' कहे जाते हैं. किन्तु संकुचितवृत्तिसे प्रत्येक ध्वनि एवं शब्द का अपना-अपना अर्थ होनेसे खण्डार्थ है. जैसे शब्दात्मक एवं ध्वन्यात्मक; दोनों ही शब्द नारायणवाचक होते हैं महातात्पर्यवृत्तिसे. अतः इस सन्दर्भमें अखण्डार्थ स्वीकारा गया है समस्त शब्दोंका. किन्तु संकुचितवृत्तिसे प्रत्येक शब्द अपने-अपने अर्थका वाचक होता है. इस तात्पर्यसे खण्डार्थका स्वीकार किया गया है.

महाप्रभु कहते हैं कि प्रत्येक शब्दका सर्वसामान्य अर्थ सत् है. यह सत् सच्चिदानंदका सत् है. यह अखण्डार्थ है. इसके अतिरिक्त प्रत्येक शब्दका अपना-अपना व्यवहारमूलक खंडात्मक अर्थ है. श्रीशंकराचार्य उद्देश्य एवं विधेय के खण्डोंको नष्ट करते हुए अखण्डार्थका स्वीकार करते हैं, जबकि महाप्रभु एवं श्रीमध्वाचार्य उद्देश्य एवं विधेय के खण्डोंको स्वीकारते हुए तादात्म्यवादानुसार अखण्डार्थका स्वीकार करते होनेसे मिथ्यात्व नहीं स्वीकारते.

(३) तात्पर्यार्थ (तादात्म्यवादी प्रक्रिया)

(२६)

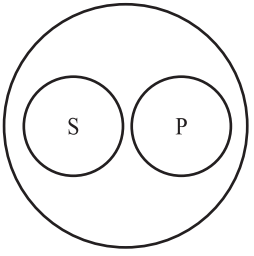

उद्देश्य एवं विधेय परस्पर स्वतंत्र होते हुए भी एक ही सिस्टम्के पार्ट होनेसे अपने-अपने अर्थोंको प्रकट करते हुए भी एक ही सिस्टम्के अर्थका प्रमुखतासे तात्पर्यवृत्तिद्वारा प्रतिपादन करते हैं. अतः तात्पर्यार्थकी प्रक्रिया तादात्म्यवादानुसारी प्रक्रिया है जिसे महाप्रभु विभिन्न किन्तु एकवाक्यतापन्न श्रुतियों द्वारा निरूपित ब्रह्म रूपी एकार्थका निरूपण करनेवाली होनेसे स्वीकारते हैं.

''स्वसृष्टम् इदम् आपीय शयानं सह शक्तिभिः तदन्ते बोधयांचक्रुस्तल्लिंगैः श्रुतयः परम्'' (भाग.पुरा.१०।८४।१२) कारिकाके अन्तर्गत विचारणीय पक्ष महाप्रभु अब यह प्रस्तुत करते हैं कि ब्रह्म जब शयन कर रहा है, तब भी इस कारिकाके अनुसार ब्रह्मके साथ श्रुति एवं अनाविर्भूत शक्तियां भी अवशिष्ट हैं. अर्थात्

ब्रह्म एकाकी शयन नहीं कर रहा है. शयनकालके सम्पन्न होनेपर जब ब्रह्मको जगाया जा रहा है, ऐसे निरूपणसे तात्पर्य यह भी निकलता है कि काल भी विद्यमान है. काल ब्रह्मकी चेष्टा होनेसे ब्रह्म निश्चेष्ट नहीं सो रहा है, यह भी सिद्ध होता है. इस शयनको निर्विकल्पक समाधिके समान समझा जा सकता है कि जिसमें मनुष्य योगबलसे स्वेच्छया अपनी चेष्टाओंको रोके हुए होनेके बावजूद भी सभी चेष्टाओंके विषयमें सभान रहता है. इस स्थितिमें प्राकृत श्रुतियां ब्रह्मको अपनी अजाको त्यागनेकी विनंती कर रही हैं ''**जय जय जह्यजाम् अजित दोषगृभीतगुणां त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगाः अगजगदोकसमाखिलशक्त्यवबोधक ते क्वचिदजयात्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः**'' (भाग.पुरा.१०।८७(=८४)।१४) यहां प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ब्रह्म अपनी अजाका त्याग करेगा कैसे, एवं यदि अजाका त्याग कर दे तो क्या प्रलय कभी होगा ही नहीं? क्योंकि ब्रह्मकी सभी क्रियाओंमें नित्यताका स्वीकार करना भी आवश्यक है. अतः 'अजा'शब्दके तात्पर्यका विचार महाप्रभु उपरोक्त कारिकाके उपक्रमतया करते हैं.

अजासे तात्पर्य है प्रकृति. जब श्रुतियां ''**जहि अजाम्**'' कह रही हैं, तब अजाके मारनेकी या त्यागनेकी बात नहीं हो रही, किन्तु अनाविर्भूत शक्तियोंको आविर्भूत करनेकी विनंती की जा रही है. अर्थात् ब्रह्म यदि अपनी शक्तियोंको आविर्भूत नहीं करेंगे तो उस स्थितिमें प्राकृत श्रुतियां ब्रह्मका निरूपण करनेमें सक्षम नहीं हो पायेगी. क्योंकि यही आविर्भूत नाम-रूप-कर्म ब्रह्मके निर्देश हेतु लिंगतया कार्यरत होते हैं. उन तिरोहित पदार्थोंके आविर्भाव बिना ही यदि श्रुतियां उन नाम-रूप-कर्मोंके निरूपणमें उद्यत होगी तो श्रुतियोंका विवेचन असत्य सिद्ध हो जायेगा; कॉरस्पोन्डिंग् पदार्थके विद्यमान ही न होनेसे. अतः लिंगतया उन शक्तियोंके

आविर्भाव हेतु यहां ब्रह्मको विज्ञप्ति की जा रही है. यही लिंग जगतके सृजनहेतु विषयतया प्रकट हो जायेंगे.

अब यहां प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब श्रुतियां उन शक्तियोंके आविर्भाव हेतु विज्ञप्ति कर रही हैं, तब श्रुतियोंका तात्पर्य प्रकृतिमें है या ब्रह्मके निरूपणमें है? अतः महाप्रभु श्रुतियोंके तात्पर्य निर्धारणार्थ उपक्रमतया ५ पक्ष जिज्ञासाके रूपमें प्रस्तुत कर रहे हैं.

(१) स्वतन्त्रतया प्रकृतिं प्रतिपादयन्ति-तथा सति शक्तेः देवताया वा प्राधान्यं स्यात् (भाग.सुबो.१०।८४।१४)

अर्थात् सृष्ट्युत्पत्ति हेतु कार्यरत होनेवाले सभी देव शक्तियुक्त हैं. उन शक्तियोंके न रह जानेपर कोई भी देव कार्यरत हो नहीं सकते हैं यथा श्रीशंकराचार्य शिव-शक्तिकी स्तुतिमें कहते हैं कि 'शिव'पदमें 'इ'कार शक्तिवाचक है, जिसके न रह जानेपर शिव, शव हो जायेंगे. इस स्थितिमें प्रमुखता शक्तिकी आ जाएगी, देवोंकी नहीं. अर्थात् श्रुतियों द्वारा होनेवाले प्रतिपादनमें प्रकृतिकी मुख्यता मानी जाएगी या प्रकृतिको धारण करनेवाले ब्रह्मकी?

(२) भगवद्रूपां भगवत्त्वेन निरूपयन्ति (भाग.सुबो.१०।८४।१४)

शक्ति एवं शक्तिमान् में भेद नहीं है, किन्तु तादात्म्यसम्बन्ध है. अतः खण्डार्थ एवं अखण्डार्थ न स्वीकारते हुए तादात्म्यवादी प्रक्रियासे विचार किया जाए तो प्रकृति एवं ब्रह्म तादात्म्यसम्बन्धसे स्थित होनेसे दोनोंमेंसे किसी एककी मुख्यताका स्वीकार न किया जाए, किन्तु दोनोंका ही स्वीकार श्रुतियों द्वारा किए जाते प्रतिपादनके तात्पर्यार्थतया किया जाए.

(३) जीवधर्मरूपेयं प्रकृतिः इति तेषामेव प्रयत्नेन स्वरूपज्ञानेन वा

निवर्तनीय इति निरूपयन्ति (भाग.सुबो.१०।८४।१४)

अजाके त्यागका निरूपण किया गया होनेसे, प्रस्तुत विषयमें जीवधर्मका निरूपण किया जा रहा है, ब्रह्मके धर्मोंका नहीं. क्योंकि जीव ही साधनोंके द्वारा अविद्याका परित्याग करता है, ब्रह्म नहीं अतः वेदस्तुति द्वारा निरूपित विषयका सम्बन्ध निर्गुण ब्रह्मसे नहीं है.

(४) निःस्वभावा शशविषाणवत् प्रतिभासत इति (भाग.सुबो.१०।८४।१-४)नष्ट वह होता है कि जिसका स्वभाव न हो. स्व+भावसे तात्पर्य है अपनी सत्ताका होना. अतः स्वभावरहित वस्तु ही नष्ट होती है. ब्रह्मका स्वभाव पारमार्थिक स्वभाव होता है एवं मायाका तो स्वभाव है ही नहीं क्योंकि माया सत्तारहित मिथ्या है. ज्ञानसे निवृत्त हो जानेके कारण मायाके होनेका तो मात्र प्रतिभास ही होता है. अतः माया निःस्वभाव है. अतः वेदस्तुतिमें जिस प्रकृतिको नष्ट (जहि-नष्ट) करनेकी बात हो रही है, वह मायाकी बात है. एवं जीव सगुणब्रह्म मायाको निवृत्त करते होनेसे यहां निर्गुण ब्रह्मका प्रतिपादन नहीं माना जा सकता.

(५) अन्तरंगा इयं भगवच्छक्तिर्लक्ष्मीरूपा सत्या अतस्तस्यामेव स्थितिर्युक्तेति प्रपञ्चनिःप्रपञ्चयोस्तुल्यतया प्रतिपादयन्ति (भाग.सुबो.१०।८४।-१४)

अजासे तात्पर्य यहां भगवत्शक्तिरूपा लक्ष्मीसे है. क्योंकि लक्ष्मीशक्तिके रूपमें भगवान्‌की सभी शक्तियोंका अद्वैत है एवं अन्य सभी शक्तियोंका लक्ष्मीकी प्रमुखतासे अद्वैत है. 'लक्ष्मी'शब्दसे तात्पर्य है किसी भी वस्तुका अपना विशिष्ट गुणधर्म जिसे वो धारण करता हो. अतः ब्रह्म लक्ष्मीशक्तिको धारण करते हुए शयन करता है. तथा जागृत हो कर लक्ष्मीशक्तिके अन्तर्गत

अन्य कुछ शक्तियोंको प्रकट करता है. ऐसे मतको स्वीकारनेपर आपत्ति यह आएगी कि प्रपंच एवं निष्प्रपंच की स्थितिमें समानता आ जायेगी क्योंकि ब्रह्म/नारायणके साथ लक्ष्मीकी नित्य स्थिति है.

भगवान्‌की इन अनन्तशक्तियोंमें पालनोपयोगिनी शक्ति, कार्योपयोगिनी शक्ति एवं शयनोपयोगिनी शक्तियां भी हैं. योगनिद्रा भगवान्‌की शयनोपयोगिनी शक्ति है जिसके द्वारा प्रलयोपरांत भगवान् शयन करते हैं. किन्तु प्राकृत शक्तियां कार्योपयोगिनी शक्तियां हैं कि जिन्हें आविर्भूत करके भगवान् सृष्टिको उत्पन्न करते हैं. इस प्रकार शक्तिके आविर्भाव सम्बन्धी अनेक पूर्वपक्ष होनेसे '**जहि अजाम्**'पदके तात्पर्यार्थका विचार आवश्यक होनेसे परीक्षितकी जिज्ञासाद्वारा वेदस्तुति भगवान्‌की अनन्तशक्तियोंके निरूपणपूर्वक ब्रह्मके स्वरूपका निर्देश करने हेतु तत्पर हो रही हैं.

वेदस्तुतिके उपक्रमतया किन शक्तियों द्वारा ब्रह्मका निरूपण किया जा रहा है, इस विषयमें महाप्रभुने ५ विकल्प प्रस्तुत किए हैं जिनमेंसे पांचवा विकल्प यह बताया गया कि ब्रह्म अपनी अंतरंग शक्ति लक्ष्मीके साथ शयन करता है, अर्थात् ब्रह्मकी जैसे एक अंतरंग शक्ति है वैसे ही ब्रह्मकी बहिरंग शक्ति भी उदाहरणतया है. महर्षि पाणिनीके व्याकरणके अनुसार ''**अन्तरंगे कार्ये कर्तव्ये सति बहिरंगं कार्यम् असिद्धं स्यात्**'' (पाणि.सू.६।१।७१) अर्थात् शब्दके अंतरंग एवं बहिरंग, दो प्रकारके कार्य होते हैं. शब्दके मूल स्वरूपके साथ किया जानेवाला कार्य 'अन्तरंग कार्य' कहलाता है, ''**यथा रमते योगिनो यस्मिन् इति रामः**'' में 'रमते'से राम शब्द बन जाना. शब्दको प्रत्यय जोड़के जब कोई कार्य किया जाए तब वह 'बहिरंग कार्य' कहलाता है, यथा 'राम'

शब्दसे 'रामस्य' बनाना. परंतु जब अन्तरंग कार्य करना हो तब बहिरंग कार्य असिद्ध हो जाता है, इस सिद्धांतसे यदि ब्रह्मकी शक्तियोंके विषयमें विचार किया जाए तो लक्ष्मी शक्तिको अन्तरंग शक्ति कहनेपर अंतरंग शक्ति कार्यकी प्रमुखता सिद्ध होगी एवं बहिरंग शक्ति कार्यकी गौणता. अर्थात् प्रकृति शक्तिद्वारा जगतको उत्पन्न करनेका कार्य ब्रह्मके लिए बहिरंग कार्य सिद्ध हो जायेगा. अतः जगत्सृजनार्थ लक्ष्मीका त्यागरूप, अर्थके प्रस्तुत सन्दर्भमें स्वीकार नहीं किया जा सकता.

जगद्व्यापारवर्जम् (ब्र.सू.४।४।१७) ब्रह्मसूत्रके इस सूत्रमें यह विचार किया गया है कि जब जीव ब्रह्मके साथ सायुज्यभावापन्न होता है तब ब्रह्म एवं जीवमें कोई भेद शेष रह नहीं जाता. प्रश्न इस स्थितिमें यह उपस्थित होता है कि यदि जीव एवं ब्रह्म समान हैं तो क्या ब्रह्मके सभी धर्मोंका आविर्भाव जीवमें भी स्वीकार लिया जाए? क्या जीवमें भी जगत्कर्तृत्वका धर्म प्रकट हो जायेगा? महाप्रभु कहते हैं कि प्रस्तुत सूत्रमें शंकाका स्वरूप जीवमें भगवद्धर्मका आविर्भाव नहीं है अपितु ब्रह्मानुभवके समय क्या जीवको जगतका अनुभव होता है? यह शंकाका स्वरूप है. क्योंकि महाप्रभुने पूर्व ही **आनन्दादयः प्रधानस्य** (ब्र.सू.३।३।११)सूत्रमें ही आनन्दादि धर्मोंको स्वरूपकोटिवाले ब्रह्ममें वृत्तिमान कारण या कार्य कोटिके ब्रह्ममें भी तिरोहित आनन्दवाले जीवोंमें ब्रह्मके सभी धर्म प्रकट नहीं होते है, किन्तु आनन्दरूप ब्रह्ममें ही होते हैं. श्रीशंकराचार्यने ब्रह्मके ही शबल-सगुण एवं निर्गुण पर ऐसे दो भेद स्वीकारे हैं. श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि माया नामक गायके दो बछडे हैं; एक सर्वज्ञ है जो कि ईश्वर है, एवं दूसरा असर्वज्ञ है जो कि जीव है. अतः श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि जीवमें सायुज्य प्राप्त करनेके बाद भी जगद्व्यापारका

धर्म आविर्भूत नहीं होता, किन्तु अन्य सभी धर्म आविर्भूत होते हैं.

महाप्रभु तादात्म्यवादका स्वीकार करते होनेसे ब्रह्ममें सायुज्यभावापन्न होनेके बाद भी ब्रह्मके सभी धर्मोंका जीवमें आविर्भाव आप नहीं स्वीकारते हैं. किन्तु श्रीशंकराचार्य अद्वैतवादी होनेसे इस प्रश्नका समाधान जीवकी मुक्त्यावस्थामें दे पाना उनके लिए समस्याजनक हो जाता है. अतः श्रीशंकराचार्यका पक्ष इस विषयमें विचारणीय है : "ईशसे अभिन्न मुक्तजीवमें जगद्व्यापारका निषेध किया जा रहा है". श्रीशंकराचार्यके मतके अनुसार मात्र जीवके अज्ञानसे जन्य यह सृष्टि नहीं है, सर्वज्ञ किन्तु मायिक ईश्वर सृष्टिकर्ता है. जीव एवं ईश्वर "**जीव ईशो विशुद्धा चिद् विभागस्त्वनयोः द्वयोः अविद्या तत्कृतो बन्धः षडस्माकम् अनादयः**" (सिद्धा.ले.सं.१।१७) सिद्धान्तके अनुसार एकवद्भावापन्न हो जानेपर भी दोनोंमें सर्वज्ञता एवं असर्वज्ञता का भेद बना रहेगा. अतः जीवके ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेने मात्रसे मायिक सृष्टिका नाश कैसे सम्भव रह जायेगा, जब सगुण ब्रह्म स्वयं सृष्टिकर्ता है? अखंण्डार्थवादके अनुसार तो मायाके कम्पार्टमॅन्ट्का टूटना भी अद्वैतसिद्धिके लिये आवश्यक है. अतः श्रीशंकराचार्य जगतके स्थितिकालमें तो इस अद्वैतको सिद्ध कर पा रहे हैं, किन्तु जीवके मुक्तिकालमें अद्वैत एवं ब्रह्म के धर्मोंका जीवमें आविर्भूत न भी होना, इन दोनों ही पक्षोंका समावेश करना उनके लिए समस्या खड़ी कर रहा है. इस स्थितिमें ब्रह्मैक्यविद्यासे जीवकी मुक्ति भी कैसे सम्भव रह जायेगी? समाधानतया श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि ब्रह्मैक्यज्ञानरूपा विद्या प्राप्त करनेसे अविद्याकी निवृत्ति होती है, पदार्थ निवृत्त नहीं होते हैं.

श्रीशंकराचार्यके पक्षका अवलोकन करनेपर यह प्रश्न वेदस्तुतिके

वर्ण्यविषयके सम्बन्धमें भी उपस्थित होता है कि यदि निर्गुण ब्रह्म सर्वथा निर्धर्मक होता है तो जिस अजाके साथ ब्रह्म शयन कर रहा है एवं जिस अजाको आविर्भूत करनेकी विनंती की जा रही है, उस शक्तिको धारण करनेवाले कौन है? अर्थात् यह माया जीवकी है किंवा ईश्वर/सगुण ब्रह्मकी माया है या निर्गुण ब्रह्मकी? सभी अविद्या जीवकी है, ऐसा कह देनेपर समस्याका समाधान सरलतासे हो सकता है जैसा कि भगवान् बुद्धका मत है. किन्तु यह माया ब्रह्मकी माया है ऐसा कहनेपर समस्या यह उपस्थित होती है कि जीव यदि ब्रह्मकी मायामें फंस रहा है तो स्वयं वह अपने प्रयत्नोंसे मुक्ति भी प्राप्त नहीं कर पायेगा. ब्रह्मकी माया क्षयिष्णु/नाशवंत नहीं हो सकती है क्योंकि ब्रह्मके नित्य होनेपर ब्रह्मके सभी धर्मोंका भी नित्य होना आवश्यक है. अतः किस अजाके विषयमें वेदस्तुति निरूपण कर रही है यह मुख्य प्रश्न उपस्थित हो रहा है.

''जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणां
त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगाः।
अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते
क्वचिदजयात्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः॥''

(भाग.पुरा.१०।८७(=८४)।१४)

श्लोकार्थ : अजित! आप सर्वश्रेष्ठ हैं. आप पर कोई विजय नहीं प्राप्त कर सकता. आपकी जय हो! जय हो. जीव अपने स्वरूपका ज्ञान प्राप्त न कर पाए, तदर्थ ही सत्त्व आदि गुणोंका जिसने स्वीकार किया है, उस निद्राका त्याग करो. क्योंकि आपने अपने ही स्वरूपमेंसे समस्त भग, अणिमा आदि सुख एवं स्वरूपानन्द में निद्राकी आवश्यकता रहित हो. हे स्थावर-जंगम जीवोंकी इन्द्रियोंकी समग्र शक्तियोंको जागृत करनेवाले! कभी अजाद्वारा तथा कभी

स्वयं अपने ही स्वरूपसे क्रीड़ा करनेवाले आपका वेद प्रबोध कर रहे हैं!

सूक्ष्मटीका एवं सुबोधिनी तात्पर्यार्थ : महाप्रभु कहते हैं कि प्राकृत श्रुतियों द्वारा किये गए निरूपणमें तात्पर्य ब्रह्मके निरूपणमें लिया जाए, या प्रकृतिके निरूपणमें लिया जाए — यही प्रस्तुत जिज्ञासाके अन्तर्गत शंकाका स्वरूप है. भगवान् जीवके सुखार्थ प्रलय करते हैं, स्वसुखार्थ नहीं. "**कृष्णस्य आत्मरतौ त्वस्य लयः सर्वसुखावहः** (त.दी.नि.१।२४) अतः प्रलयोपरांत ब्रह्मकी निद्रा योगनिद्रा है. 'जय जय'का उच्चारण प्रबोधनार्थ. भगवान्को 'अजित' कहा गया है. तात्पर्य यह है कि निद्रावस्थित ब्रह्मके ऊपर भी वश निद्राका नहीं है, किन्तु ब्रह्म निद्राको जीत कर शयन करता है. ब्रह्ममें अन्तर्निहित सत् चित् एवं आनन्द मेंसे सात्त्विक राजस एवं तामस गुण प्रकट होते हैं, जिनसे जीवोंको अध्यास होता है. इन्हीं अध्यासोंसे बद्ध जीव मुक्ति हेतु साधन करता है. अतः विद्या एवं अविद्या दोनों ही भगवान्की शक्ति हैं जिनका स्वेच्छया उपयोग वे जीवोंके ऊपर करते हैं. बंध-मुक्ति ब्रह्ममें लीलारूप है. अतः वे जब जिस किसी शक्तिका उपयोग करना चाहता है तब उन शक्तियोंको अपने आनन्दमेंसे ही आविर्भूत कर देता है.

'अग'से तात्पर्य है स्थावर पदार्थ एवं 'जगत्'से तात्पर्य है जंगम पदार्थ. इन दोनोंको शक्ति प्रदान करनेके लिए भगवान् अपनी शक्तिको जागृत करते हैं इन शक्तियोंकी आवश्यकता जीवोंको है, ब्रह्मको नहीं. क्योंकि ब्रह्म तो अजा प्रभृतिके साथ भी आत्मरत्या चरण करता है. प्रकृति शक्तिके साथ ब्रह्मका चरणका अनुचरण श्रुतियां कर सकती हैं. ब्रह्म अवतारलीलाके समय प्राकृत शक्तियोंसे

बद्ध होनेका अभिनय करते हुए चरण करता है. उस समय श्रुतियां और भी ज़्यादा विशिष्ट रूपसे ब्रह्मका निरूपण करने हेतु उद्यत हो पाती हैं. इसीलिए सर्गलीलासे मुक्तिलीला पर्यंत तो प्राकृत शक्तियोंवाले ब्रह्मका ही निरूपण भागवत भी करती है एवं द्वादश स्कन्धान्तर्गत निरूपित आश्रयलीला भगवान्‌के स्वरूपका निरूपण है.

श्रुतियां भगवान्‌को निद्राका त्याग करने हेतु विनंती कर रही हैं. निद्राके नाशसे(अदर्शन) तात्पर्य त्याग है क्योंकि महाप्रभुने नाशका अर्थ **''नश्' अदर्शने''** (पाणि.धा.पा.११९४) अर्थात् तिरोधान मात्र किया है, सर्वथा नाश/अभाव नहीं. क्योंकि इस योगनिद्राको भी भगवान्‌ने लीलया ही धारण किया है. **''सत्त्वं रजस्तम इति त्रिवृद् एकम् आदौ सूत्रं महान् अहम् इति प्रवदन्ति जीवं, ज्ञानक्रियार्थफलरूपतयोरुशक्ति ब्रह्मैव भाति सदसच्च तयोः परं यत्''** (भाग.पुरा.११।३।३७) अतः महाप्रभु आज्ञा करते हैं कि भगवान्‌की लीला माया एवं प्रकृति तथा ब्रह्म एकभावापन्न तत्त्व ही हैं; भिन्न-भिन्न नहीं. किन्तु इन तीनों ही पहलुओंका कार्य भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है. यथा भगवान् स्वप्रकाश हैं, योगनिद्रा प्रकाशका तिरोधान; अंधकाररूप है एवं माया भगवान्‌के स्वरूपको छुपा कर स्वयं प्रकाशित होनेवाली शक्ति है. महाप्रभु इन तीनोंकी एकरूपता समझाते हुए आज्ञा करते हैं कि भगवान्‌का पीताम्बर ही मायारूप है जिसे स्वेच्छया धारण करते हुए भगवान् अपने स्वरूपको छुपाना चाहते हैं. नलकूबर-मणिग्रीव स्तुतिमें भगवान्‌के इस गुणका निरूपण करते हुए कहते हैं **''आत्मद्योतैः गुणैः छन्नमहिम्ने''** (भाग.पुरा.१०।१०।३३) अर्थात् जैसे सूर्यप्रकाशसे ही वाष्पीकरणकी प्रक्रियासे आकाशमें बने हुए बादल सूर्यके कार्यरूप होते हुए भी सूर्यको छुपा देते है, उसी प्रकार भगवान् भी अपने ही

गुणोंद्वारा अपने स्वरूपको छुपा देते हैं. अतः भगवान्‌की एक शक्ति उनके स्वरूपको छुपाती है एवं भगवद्रूपा दूसरी शक्ति ही भगवान्‌के स्वरूपको जानने हेतु लिंगका कार्य भी करती है. श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि मायाका नाश होनेपर ब्रह्मज्ञान होगा, किन्तु महाप्रभु कहते हैं कि भगवत्शक्तिरूपा माया ही ब्रह्मज्ञान हेतु लिंगका कार्य करती है.

'माया' शब्दका अर्थ करते हुए महाप्रभु कहते हैं **''मातुं याति इति माया''** अर्थात् ब्रह्मको नापनेका साधन माया है. जीवको निद्राकी आवश्यकता शरीरकी शक्तियोंको विराम प्रदान करने हेतु होती है. अर्थात् निद्रा सुख-दुःखतया आती है. किन्तु ब्रह्मका सुख निजात्मोत्थ सुख है. सुखके तीन प्रकार बताये गए हैं. **''सात्त्विकं सुखं आत्मोत्थं विषयोत्थं तु राजसं तामसं दैन्यमोहोत्थम्''** भगवान् ऐश्वर्यवान् होनेसे निजात्मोत्थ सुखस्वरूप हैं, जबकि जीव अल्प ऐश्वर्यवान् होनेसे राजस एवं तामस सुखोंका अनुभव करता है. अतः अजित भगवान् स्वेच्छया अपनी निद्राशक्ति मायाशक्ति प्रकृतिशक्ति का संचालन करते हैं. अर्थात् कभी ब्रह्म प्राकृत जगतमें अवतीर्ण हो कर प्रकृतिके साथ चरण करता है, एवं कभी प्रकृतिको तिरोहित करते हुए आत्मरतिमें चरण करता है. जिससे ब्रह्मको परिभाषित करने हेतु ब्रह्मके दो लक्षण प्रतिपादित हुए हैं; स्वरूपलक्षण(आत्मनाचरण) एवं कार्यलक्षण(अजयासहचरण). भगवान्‌की प्रकृति **दोषगृभीतगुण** है अर्थात् गुण सभी दोषयुक्त हैं, किन्तु भगवान् उन्हें धारण करते हुए भी अजित होनेसे निर्दुष्ट हैं. उन गुणोंकी निर्दुष्टताका बोध हमें तब हो पाता है कि जब गुणोंमें अनुप्रविष्ट भगवान्‌को तत्त्वरूपसे देख पाएं. भगवान् अधोक्षज हैं अर्थात् दिखलाई नहीं दे रहे हैं. ब्रह्मात्मक नाम-रूप-कर्म जो गुणोंसे युक्त हैं; उन कार्यरूपोंको भगवान्‌ने प्रकट किये हैं

जिनका प्रत्यक्ष हमें हो रहा है. अतः श्रुतियां दोषनाशार्थ ही ब्रह्मके इस स्वरूपका निरूपण करने हेतु उद्यत हुई हैं. अतः इन सभी कार्यरूपोंमें/प्राकृतरूपोंमें अनुप्रविष्ट भगवान्को जान लेनेपर सभी पदार्थोंमें निर्दुष्टताकी दृष्टि बन जाती है. महाप्रभु वेदस्तुतिके विषयका तात्पर्यार्थ प्रतिपादित करते हुए अतएव कहते हैं-

''प्राकृताः श्रुतयः सर्वा भगवन्तमधोक्षजम्।
स्तुवन्ति दोषनाशाय तत्राविष्टो भवेद्यथा।।''

(भाग.सुबो.का.१०।८४।१०)

कारिकार्थ प्रकृतिका निरूपण करनेवाली सभी श्रुतियां इन्द्रियातीत भगवान्की स्तुति दोष नाशार्थ कर रही हैं कि आप अपनी अजाको प्रकट करते हुए उसके गुणोंमें प्रवेश करो.

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

"अनिर्देश्ये ब्रह्मणि गुणवृत्तयः श्रुतयः कथं चरन्ति ?" इत्यत्र स्वतन्त्रलेखः

(मंगलाचरणम्)

स्तौम्यवाच्यं हि वाच्यं यद् भूत्वा सृष्टौ विराजते॥
सर्वगत्वाद् अप्रणम्यं श्रुतिगम्यं नमाम्यहम्॥१॥

(विषयोपन्यासः)

स्वरूपदृष्ट्याऽनिर्देश्यं निर्देश्यं लीलयाऽभवत्॥
जानुभ्यां रिंगणाशक्तः शिशुः बालः चलेन्न किम् ?॥२॥
सदसद्भ्यामतीतं यद् जातं सदसदात्मकम्॥
एकत्वादद्वितीयत्वाद् अन्यसाचिव्यवर्जितम्॥३॥
एकमेवाद्वितीयं सद् बहुत्वमात्मनोऽकरोत्॥
अतदात्मकानामन्येषां साहाय्यं निषिध्यते॥४॥
बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् स्वात्मकानसृजत् प्रभुः॥
एतैर्ग्राह्यमपि भूत्वा नामुञ्चत् स्वप्रकाश्यताम्॥५॥
प्रज्ञारूपाः हि ये शब्दाः प्राणादेः ध्वनिरूपकाः॥
सर्वं वेदात्मकं ब्रह्म नामलीलात्मकं मतम्॥६॥
क्रियाज्ञानशक्तिमत् तद् अन्योन्योद्भवहेतुताम्॥
प्रकटीकरोति सृष्ट्यादौ ज्ञानादेव क्रियोद्भवः॥७॥
परा वाग् ज्ञानरूपैव पश्यन्त्यादिक्रियादिभिः॥
लीलाभिः प्रकटीभूत्वा नामलीलात्मिका ह्यभूत्॥८॥
प्राकृती रूपलीलातु सदंशक्रिययोद्गता॥

लीले चैते उभे ह्यन्योन्याश्लिष्टे श्रुतिसंमते॥९॥

(एतस्याः श्रुतिभागवतयोः निर्दिष्टा प्रक्रिया)

सर्वाणि रूपाणि तु तद्गतानि
आसन् हि वाच्यानि तथैव नामभिः॥
सृष्टौतु तैस्तैरिह नामभिः पुन-
रन्योन्यश्लिष्टाण्यभवन् हि तस्याः[१]॥१०॥
लोकेतु रूपेषु पदस्य शक्तिः
सदा भवेत् संकुचितार्थवृत्त्या॥
सैषा परस्मिन् अतथार्थवृत्त्या
स्याद् वाचिका सर्वरूपेहि तत्र॥११॥

परस्य सच्चिदानन्दब्रह्मणः सद् विभक्तिमत्॥
[२]प्राकृतं सगुणं ज्ञेयम् अविभक्तन्तु निर्गुणम्॥१२॥
अनिर्देश्ये निर्गुणेऽपि चरन्त्यः श्रुतयस्सदा॥
स्वासंकुचितवृत्त्यातु संकोचे गुणवृत्तिता॥१३॥

(अत्र प्रत्यक्षाद्यनुभूतीनाम् उदाहरणम्)

सन्मात्रग्राहिप्रत्यक्षे भाति सद् निर्विकल्पकम्॥
गुणकर्मादिसंज्ञाभिः प्रकारैः स्याद् विकल्पमत्॥१४॥
ज्ञेयप्रकारताबुद्धिरहितं सविशेष्यकम्॥
निर्विकल्पकमित्याहुः तैर्युतं सविकल्पकम्॥१५॥
यथा तथैवानुमितौ ज्ञानं पक्षैकगोचरम्॥
पक्षताभानरहितं भवेत् तन्निर्विकल्पकम्॥१६॥
पश्चात् साध्यवत्तादिप्रकारैः सहितं पुनः॥
प्रतिज्ञायां हि विकसद् जायते सविकल्पकम्॥१७॥
शब्दाश्चापि तथा सर्वे पूर्वं 'सद्'वाचकाः मताः॥

असंकुचितवृत्त्या सद्भानं तन्निर्विकल्पकम्॥१८॥
आकृत्यादिग्राहिकाभिः वृत्तिभिः रूपवाचकाः॥
नूनं 'घट'पदं यस्माद् घटत्वस्यापि वाचकम्॥१९॥
भावार्थकौ तु त्वतलौ घटसद्भाववाचकौ॥
सतएवाभिव्यक्तिर्हि तत्तन्नामार्थरूपतः॥२०॥
विकल्पवाचकाः शब्दास्ततो ह्युभयवाचकाः॥
तत्सामग्रीविरहिताः सहिताश्चेति भेदतः॥२१॥
श्रुतयोऽपि ततः सर्वनिषेधात् शेषवृत्तितः॥
एकमेवाद्वितीयं सद् बोधयन्ति यथा तथा॥२२॥
[३]तदाभुः स्वाबुभूषातोऽभवत् सर्वप्रकारतः॥
नामरूपकर्मभेदैरनेकैः व्याकृतैः स्वकैः॥२३॥
वाच्यवाचकशक्तिभ्यामभिधादिप्रकारतः॥
ऐतदात्म्यमिदं सर्वं स्वात्मसृष्टं विभासितम्॥२४॥

(उपसंहारः)

श्रुतिगीतपूर्वपक्षसिद्धान्तौ वर्णितौ मया॥
स्वबुद्धिशोधनायैवं निजाचार्यकृपाबलात्॥२५॥

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजश्याममनोहरेण रचितः
"अनिर्देश्ये ब्रह्मणि गुणवृत्तयः श्रुतयः कथं चरन्ति?"
इत्यत्र स्वतन्त्रलेखः सम्पूर्णः

---

[१]"सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वा अभिवदन् यद् आस्ते" (तैत्ति.आर.३।१२।७).

[२]"'ज्ञानम् एकं पराचीनैः इन्द्रियैः ब्रह्म निर्गुणम् अवभाति अर्थरूपेण

भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा' वस्तुतः सर्वं जगद् बोधान्वयव्यतिरेकानुसरणाद् बोधमात्रम् इति अवसीयते. यः कश्चन लौकिको वैदिकः सर्वोऽपि व्यवहारो बोधएव पर्यवसितइति. यथा सर्वे तरंगाः समुद्रे पर्यवसिताइति. अतः एकमेव ज्ञानं पराचीनैः प्राकृतेन्द्रियैः व्यापकत्वाद् बृंहणत्वात् च निर्गुणमेव, गुणानां तदतिरिक्तानाम् अभावाद्, घटपटाद्यर्थ(ज्ञानभिन्नार्थ)रूपेण भ्रान्त्या अवभाति'' (सुबो.३।३२।२८).

[३]''आनीद् अवातं स्वधया तद् एकं तस्माद् ह अन्यद् न परः किञ्चन आस. तम आसीत् तमसा गूढम् अग्रे अप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदं तुच्छ्येन आभुः अपिहितं यद् आसीत् तपसः तद् महिना अजायत एकम्'' (ऋक्संहि.१२९।१७।२-३).

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

अनिर्देश्यब्रह्मनिर्देशनप्रक्रियारूपश्रुतिगीतोपक्रमः

निर्देशनप्रक्रिया याऽनिर्देश्यब्रह्मगोचरा ॥
प्रणम्य श्रीमदाचार्यान् वर्णये तां यथामतिः ॥१॥
अनिर्देश्यमजिज्ञास्यं जिज्ञास्यं चेत् तदन्यथा ॥
अवाच्यं हि तदित्युक्ते जिज्ञासोपशमो नहि ॥२॥
अथापि जिज्ञासाध्वंसे वैयर्थ्यं श्रुतिसूत्रयोः ॥
लक्षणेन प्रमाणेन ज्ञाते तदभिधेयता ॥३॥
लक्ष्यतोपलक्ष्यता वा ह्यवाच्यस्य न शक्यते ॥
लक्षणा शक्यसम्बन्धेत्युपलक्षितवाच्यता ॥४॥
अनिर्देश्ये ब्रह्मणीत्थं नैवोद्देश्यविशेष्यते ॥
शक्येते भवितुं तस्माच्छंका स्वव्याहता मता ॥५॥
"यतो वाचो निवर्तन्ते ह्यप्राप्य मनसा सह"[१] ॥
"अनिर्देश्यं..."[२] श्रुतिभ्यां चेद् वैयर्थ्यापादकन्तु तत् ॥६॥
समन्वयाधिकरणेक्षत्यधिकरणयोर्ध्रुवम् ॥
ततः स्वाभाविकैक्ये तु वाचकादेरभावतः ॥७॥
एकमेवाद्वितीयं[३] तद् ह्यवाच्यमधुनोच्यते ॥
द्वितीयवाञ्छया[४] तस्य वाचकादेस्तदुद्भवात् ॥८॥
वाच्यत्वमपि श्रुत्यादिशास्त्रैश्च स्यात् कुतो नहि ? ॥
गुणाभिधायिन्या श्रुत्या तद्गुणानां निरूपणम् ॥९॥
स्वात्मजातगुणेभ्योऽपि तात्पर्येणाभिधेयता[५] ॥

''अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे शब्दाज्ज्ञानं''[६] यदीष्यते॥१०॥
अव्यक्तश्च सदंशश्च शब्दवाच्यः कुतो नहि ?॥
चिदानन्दांशयोश्चापि सत्त्वादेवास्ति वाच्यता॥११॥
सृष्टेः प्राक् तदवाच्यत्वेऽप्युत्तरत्र तु वाच्यता॥
वेदर्षयस्तथा द्वैतं श्रित्वा ह्येकाकिनं जगुः॥१२॥
तत्प्रसूतप्रदत्तैस्तु मात्राप्राणेन्द्रियादिभिः॥
सच्चिदानन्दरूपस्य वाच्यत्वञ्चाभिपद्यते॥१३॥
जडजीवेश्वराणामप्यंशानां वाच्यता ततः॥
सत्त्वादिगुणरूपाहि प्रकृतिस्तु सदंशजा॥१४॥
प्रलये योगनिद्रायां स्वपार्श्वे स्थापितां तु ताम्॥
जहाति यदि नो ब्रह्म कस्तद् वक्तुं हि शक्नुयात्॥१५॥
क्रीडद् विहाय तां नूनं लीलया वाच्यतां व्रजेत्॥
बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् सदंशाञ्च चिदंशकान्॥१६॥
प्रकटीकृत्यात्मरत्या[७] नामरूपक्रियास्[८] तथा॥
वाच्यस्तदा भवेत् भगवान् श्रुतिभिर्नात्र संशयः॥१७॥
प्रार्थना युज्यते चातो ''जह्यजाम्''इति तस्य वै॥
बहुधा नामरूपाभ्यां कर्मणा जनकं हि तत्[९]॥१८॥
स्वात्मनि स्वात्मिकां सृष्टिं स्वात्मना[१०] त्रीण्यपि स्वयम्॥
वाच्यवाचकवचना[११] विर्भावश्चापि तत्र वै॥१९॥
तद् विधेयाभिधेयञ्च विकल्प्यापोह्यमेव च॥
शाब्दीं भिदां समाश्रित्य चार्थीञ्चैकात्मतां पुनः[१२] ॥२०॥
अन्यावाच्यमपि ब्रह्म स्वांशवाच्यं बभूव ह॥
प्रागुत्पत्तेरियं सृष्टिरासीद् आत्मैव केवलः॥२१॥
अहंकारास्पदात्मैकः नापश्यदात्मनः पृथक्॥
स्वस्मादिति तु सर्वेभ्यः पाप्मभ्यः पूर्ववर्तिता॥२२॥
सृष्ट्युत्पत्तौ स्वतोभिन्नं नान्यत्पापादिकं तदा[१३] ॥

तदैक्यास्यानुसन्धानात् सर्वपापक्षतिर्मता[१४] ॥२३॥
सृष्टावपि प्रजातस्य पुण्यपापकृतः चितः॥
तदेव वर्ण्यते श्लोके "जह्यजां(पापकारिणीम्)" ॥२४॥
जीवानां स्वात्मसुप्तानां येन स्युः ब्रह्मवादिता॥
जागरो ब्रह्मवेतृणां जीवानामन्यथा नहि॥२५॥
वाचस्तु वैखरीरूपमात्रं मत्वा हि केचन॥
बृहत्यवाच्यं मन्यन्ते ब्रह्म निर्धर्मकं मुधा॥२६॥
"प्रज्ञापेता हि वाङ्नाम नहि किञ्चन विद्यते"[१५] ॥
प्रज्ञया ब्रह्मविज्ञानं कुतोऽशक्यं भवेत् तदा॥२७॥
वैखर्यामपि प्रज्ञैव समारूढे[१६] ति वर्णनात्॥
"प्रज्ञानं ब्रह्म"[१७] चेत्युक्त्वा स्वप्रकाशत्वदूषकाः॥२८॥
"निःश्वसितत्वमेतस्माद्"[१८] ज्ञानरूपात्तु ब्रह्मणः॥
शब्दब्रह्मात्मकं शास्त्रं तद्वेद्या स्वप्रकाशता॥२९॥
विजिज्ञासा वचो दुष्टा निषिद्धत्वात् श्रुतौ किल॥
"विजिज्ञासीत नो वाचं विद्याद् वक्तारमेव"[१९] तु॥३०॥
निःश्वासवद् अप्रयासाद् वक्तारं ब्रह्म केवलम्॥
"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै॥
तं ह देवम् आत्मबुद्धिप्रकाशं"[२०]
इत्येवं श्रुतिरेवाह जिज्ञास्या न ततोऽस्य वाक्॥३१॥
स्वस्य प्रकाशने ब्रह्म नास्वीयां वागपेक्षते॥
स्वपरप्रकाशरूपा वाणीर्हि दशधोदिता॥३२॥
तृतीयस्य सुबोधिन्याम्[२१]आचार्यचरणैः स्फुटा॥
क"**सत्यं ज्ञानम् अनन्तं**"[२२]श्रुत्युक्तं धर्मिरूपिणम्॥३३॥
स्वानन्दांशं तिरोभाव्य ज्ञानं वाक् तच्चिदंशगा॥
ख[सर्वजीवसमष्टिः सा ज्ञानधर्मस्वरूपिणी॥३४॥

सूर्यप्रकाशवत् सापि चांशांश्युभयगाऽपरा॥
प्रज्ञारूपा [ग]तृतीयाथ परा वेदात्मिका हि वाक्॥३५॥
साचाप्युभयनिष्ठैव ब्रह्मतत्कार्यविश्वगा॥
पश्यन्त्याख्या [घ]तुरीया तु शब्ददेहाऽभवत् पुनः॥३६॥
''न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते॥
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते''[२३]॥३७॥
ज्ञानरूपैव शब्दात्मा नास्यां भौतिकता क्वचित्॥
बाह्यार्थमेयनिष्ठापि तत्प्रमातरि चाश्रिता॥३८॥
यथा वाग् अर्थनिष्ठा वै वाङ्निष्ठोऽर्थस्तथैव हि॥
उभयोरर्धवृगलत्वम् अन्योन्यानुकारिता॥३९॥
'तदुपर्य'[२४]धिकरणे शब्दादर्थोद्भवः श्रुतः॥
''सर्वेषान्तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक्॥४०॥
[ङ]वेदशब्देभ्यएवादौ पृथक् संस्थाश् च निर्ममे''[२५]॥
''स भूरिति व्याहरत् पूर्वं तथा भूमिं चकार स''[२६]॥४१॥
नित्येऽतो वाचके शब्दे वाच्येऽर्थे च सनातने॥
सत्यवाच्यब्रह्मकथा माता वन्ध्या ममेतिवत्॥४२॥
मेयार्थनिष्ठा वाग् यद्वत् प्रमातर्यपि संस्थिता॥
प्रमातुस्तु जागरादि ह्यवस्थात्रयमीरितम्॥४३॥
चिदंशानां प्रमातृत्वं तदन्तःकरणयोगतः॥
सुषुप्तौ चित्तसंयोगात् स्वात्मबोधो विजायते॥४४॥
चित्यहंकारबुद्धियोगात् स्वाप्नी वागभ्युद्यते॥
जागरे तु मनोबुद्ध्यहंकारोदिता हि वाक्॥४५॥
तत्र [च-ञ]बुद्धेर्वृत्तयस्तु संशयाद्याः हि पञ्चधा॥
तासु निश्चयवृत्त्यैव वाणी या सा प्रचोदिता॥४६॥
वैखरीरूपतैतस्यां प्रज्ञैवारुह्य काश्यते॥
स्मृतिस्वप्नोद्भवायाञ्च वाण्यामपि तथैव हि॥४७॥

संशयोत्थाथ वाग् या सा त्वर्धांशेनार्थस्पृङ् मता॥
विपर्यासवती वाणी दृष्टान्यार्थं हि विन्दते॥४८॥
ज्ञानं दशविधं यद्वत् वाक्चापि दशधा तथा॥
ब्रह्मणः स्वप्रकाशस्य तथात्वं श्रुतिबोधितम्॥४९॥
नानुमानेन गम्यं तद् तल्लिंगादेरभावतः॥
चितोऽहमास्पदस्यापि तत्त्वमस्यादिबोधितम्॥५०॥
स्वप्रकाशत्वब्रह्मत्वे नूनं श्रुत्येकगोचरे॥
स्वप्रकाशे ब्रह्मणीत्थं श्रुतिनिर्देश्यतोदिता॥५१॥
अष्टसप्तत्युत्तरद्विसहस्रे वत्सरे मया॥
श्रुतिगीतोपक्रमोऽयं कृतो श्रीदीक्षितात्मज-॥
श्यामेन तेन तुष्यन्तु निजाचार्याः सदा मयि॥५२॥

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण
विरचितो अनिर्देश्यब्रह्मनिर्देशनप्रक्रियारूप-
श्रुतिगीतोपक्रमः समाप्तिम् अगमत्

१.तैत्तिरीयोपनिषद् : २।९

२.कठोपनिषद् : २।२।१४.

३.छान्दोग्योपनिषद् : ६।२।२.

४.बृहदारण्यकोपनिषद् : १।४।३

५.''नमो गुणप्रदीपाय गुणात्मच्छादनाय च गुणवृत्त्युपलक्ष्याय गुणद्रष्ट्रे स्वसंविदे''(भागवतपुराण : १०।१६(=१३)।४६)

६.श्लोकवार्तिक : १।१।२।६.

७.''स वै नैव रेमे... स द्वितीयम् ऐच्छत् स ह एतावान् आस''(बृहदारण्यकोपनिषद् : १।४।३).

८.''तद्धेदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत् तद् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत असौनामा अयम् इदंरूप इति''(बृहदारण्यकोपनिषद् : १।४।७).

९.''त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि ... रूपाणि... कर्माणि बिभर्ति तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयमात्मा आत्मो एकः सन् एतत् त्रयम्'' (बृहदारण्यकोपनिषद् : १।६।१-३)

१०.''यथा भूतानि भूतेषु खं वाय्वग्निर्जलं मही तथा अहं च मनःप्राणभूतेन्द्रियगुणाश्रयः आत्मन्येव आत्मना आत्मानं सृजे हन्मि अनुपालये आत्ममायानुभावेन भूतेन्द्रियगुणात्मना'' (भागवतपुराण : - १०।४७(=४४)।२९-३०)

११.''नानावादानुरोधाय वाच्यवाचकशक्तये नमः प्रमाणमूलाय कवये शास्त्रयोनये'' (भागवतपुराण : १०।१६(=१३)।४३-४४)

१२.''मां विधत्ते अभिधत्ते मां विकल्प्य अपोह्यते हि अहम् एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदा''(भागवतपुराण : ११।२१।४३)

१३.''आत्मैव इदम् अग्रे आसीत् पुरुषविधः सो अनुवीक्ष्य न अन्यद् आत्मनो अपश्यत्. सो 'अहमस्मि' इति अग्रे व्याहरत्. स यत्पूर्वो अस्मात् सर्वस्मात् पाप्मनः औषत्''(बृहदारण्यकोपनिषद् : १।४।१)

१४.''तस्मात् पुरुषः ओषति ह वै स तं यो अस्मात् पूर्वं बुभूषति'' (बृहदारण्यकोपनिषद् : १।४।१)

१५.''नहि प्रज्ञापेता वाङ्नाम किञ्चन प्रज्ञापयेत्''(कौषीतक्युपनिषद् : ३।७)

१६.''प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामानि आप्नोति''(कौषीतक्युपनिषद्: ३।६)

१७.ऐतरेयोपनिषद् : ५।४

१८.''अस्य महतो भूतस्य निश्वसितम् एतद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो अथर्वाङ्गिरसः इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि उपाख्यानानि व्याख्यानानि अस्यैव सर्वाणि निःश्वसितानि'' (बृहदारण्यकोपनिषद् : २।४।१०)

१९.कौषीतक्युपनिषद् : ३।८

२०.श्वेताश्वतरोपनिषद् : ६।१८.

२१.''आश्रयरूपं मुख्यम् अविकृतं सर्वोपास्यं सर्वात्मभूतं च. तदेव प्रकाशकधर्मरूपेण आविष्कृतमेव भगवद्गुणत्वेन उच्यते. तदेव पुनः सृष्ट्यर्थं वेदशरीरं गृह्णाति. तदपि रूपं विराडिव पश्चाद् बीजताम् आपद्यते शरीरविशिष्टम्. तदा व्यष्टयइव विकृताः सर्वे शब्दाः भवन्ति. तदेव पुनः प्रमातारं प्रमेयं च आश्रयते. तत्र प्रमेयाश्रयं प्रमेयानन्त्याद् अनन्तमेव... प्रमातरितु पञ्चधा तद् भवति अन्तःकरणेन्द्रिश्रयाणात्. अन्तःकरणेतु चतुर्धा इन्द्रियेषु एकधा''(सुबोधिनी : ३।४।१)

२२.तैत्तिरीयोपनिषद् : २।१.

२३.वाक्यपदीय : १।११५.

२४.ब्रह्मसूत्र : १।३।२६.

२५.मनुस्मृति : १।२१.

२६.तैत्तिरीयब्राह्मण : २।२।४।२-३.

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ श्रुतिगीतालघुटीका ॥

(कारिकाविवक्षितश्रुतियोजनोपेता)

(मंगलाचरणम्)

एकमेवाद्वितीयं चापरिच्छिन्नं हि सर्वथा ॥
सर्वनामैकनीडं तद् ब्रह्म कृष्णात्मकं श्रये ॥१॥
विधानैरभिधानैश्च विकल्प्यापोहनैरपि ॥
शब्दभेदमुपाश्रित्य भिन्नं चाभिन्नमेव च ॥२॥
कर्मशब्दैः क्रियारूपं ज्ञानं तद् मानशब्दतः ॥
प्रियं स्तुत्यं स्तवैः यत् तत् सच्चिदानन्दविग्रहम् ॥३॥
वेदस्तुत्याः लघुटीकायामहं योजनाय वै ॥
श्रुतीनां संग्रहं कुर्वे ध्यात्वाचार्यपदाम्बुजम् ॥४॥

(उपक्रमः)

''अष्टत्रिंशे श्रुतीनां हि यथा वाच्यं बृहद् भवेत् ॥
तदर्थं पूर्वपक्षादिसिद्धान्तफलमीर्यते''[१] ॥५॥
परीक्षिद्वचनं पूर्वपक्षोत्थापकमेव हि ॥
सिद्धान्तस्य समासोक्तिः व्याख्यायां पूर्वसूचिता ॥६॥
''ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः ॥
कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात् सदसतः परे''[२] ॥७॥
कारिकायाः सुबोधिन्यां समाधानं जगुः स्वयम् ॥
आचार्यचरणाः खण्डाखण्डाद्वैतविवक्षया ॥८॥
''अनन्तगुणपूर्णो हि हरिर्ब्रह्मश्रुतिस्तथा ॥

---

१. सुबो.कारि. १०।८४।८
२. भाग.पुरा. १०।८४।१

फलप्रमेयमानत्वं सच्चिदानन्दतां गतम्''[३]॥९॥
अवाच्यं मूलरूपेण सृष्टबुद्ध्यादिवाच्यता॥
लोकवेदपदैः शक्या लीलायामैच्छिकी सदा॥१०॥

(उक्तस्य संवादः सृष्टिप्रक्रियानिरूपणेन)
पत्रावलम्बनेप्येतद् यथोक्तं तदिहोच्यते॥
''ब्रह्मवादे निरुक्तिस्तु न वक्तव्यैव कुत्रचिद्॥११॥
वस्तुतो ब्रह्म सर्वं हि व्यवहारस्तु लोकतः''[४]॥
ब्रह्मणोऽव्यवहार्यस्य व्यवहार्यत्वसिद्धये॥१२॥
धर्मिणि सच्चिदानन्दे प्राक्तु धर्मविभाजनम्॥
सत्ता चैतन्यमानन्त्यं रूपनाम्नोर्हि कर्मणाम्॥१३॥
सदंशे रूपप्राकट्यं चिदंशे नामधर्मिता॥
अन्योन्यसहकारेण स्वस्वकार्येषु कारिता॥१४॥
एतयो रूपनाम्नोर्वै मूलकर्मप्रसाधिता॥
अव्यक्तरूपप्रकृतौ रजस्सत्त्वतमांसि च॥१५॥
अक्षुब्धगुणसाम्यात्तु क्षोभात्तेषु विकारिता॥
प्रकृतेर्विकारहेतुत्वाद् महदादिक्रमेण हि॥१६॥
''बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् जनानामसृजत् प्रभुः॥
मात्रार्थं च भवार्थं च आत्मनेऽकल्पनाय च''[५]॥१७॥
तदुक्तं **''त्रीणि आत्मने अकुरुत**
मनो वाचं प्राणं तानि आत्मने अकुरुत''[६] इति
औपाधिकावबोधार्थं जीवचैतन्ययोगिनाम्॥

---

३. सुबो.कारि. १०।८४।५-६
४. पत्राव. ३
५. भाग.पुरा. १०।८४।२
६. बृहदा.उप. १।५।३

मात्राणामुपकारित्वं सदंशे भूतहेतुतः ॥१८॥

(रूपनाम्नोः स्वरूपेण उपपादनम्)

रूपनाम्नोस्ततस्त्वेवम् इतरेतरयोगिता ॥
चिदंशबुद्धौ कार्यत्वं बाह्यरूपकृतं हि तत् ॥१९॥
ज्ञाप्यत्वञ्चापि रूपाणां नामहेतुकृता मता ॥
तेनेह बोधो जीवेषु क्रियाज्ञानोभयात्मकः ॥२०॥
मनसो ह्युभयरूपत्वं सम्बन्धाधायकं मतम् ॥
शब्दतन्मात्राश्रवणे बुद्धौ नाम्नां समुद्भवः ॥२१॥
ततो वेदादिशब्दानामपि बुद्धौ विधारणा ॥
एवं त्रिगुणवृत्त्यापि निर्गुणे श्रुतिचारणम् ॥२२॥
विषयस्येह नैर्गुण्यं त्रैगुण्यं विषयिण्यपि ॥
अतोऽमेयस्य मानानि श्रुतिरूपाणि सर्वथा ॥२३॥
अवाच्यवाचकान्येव नामानि सकलान्यपि ॥

(एतत्सृष्टिप्रक्रियायाः कथयोपपत्तिः)

प्रक्रियायाश्च प्रामाण्ये जनलोककथोदिता ॥२४॥
"यो ब्रह्मवादः पूर्वेषां जनलोकनिवासिनाम् ॥
स्वायम्भुव ! ब्रह्मसत्रं जनलोकेऽभवत्पुरा ॥२५॥
तत्रस्थानां मानसानां मुनीनामूर्ध्वरेतसाम् ॥
ब्रह्मवादः सुसंवृत्तः श्रुतयो यत्र शेरते" [७] ॥२६॥
प्रश्नप्रवचने तत्र प्रक्रियेयं निरूपिता ॥
तथाहि :
"स्वसृष्टमिदमापीय शयानं सह शक्तिभिः ॥२७॥
तदन्ते बोधयाञ्चक्रुः तल्लिंगैः श्रुतयः परम् ॥

---

७. भाग.पुरा. १०।८४।८ - १०

यथा शयानं सम्राजं बन्दिनस्तत्पराक्रमैः ॥२८॥
प्रत्यूषेऽभेत्य सुश्लोकैः बोधयन्त्यनुजीविनः''[८] ॥

(प्रलयशिष्टाद्वितीयस्य प्रमाणप्रमेयभेदापन्नता
प्रमाणांशेन प्रमेयांशोद्बोधने प्रमेये सृष्टिः)

सर्वज्ञसर्वशक्तेर्हि प्रमेयस्य प्रमाणतः ॥२९॥
समुद्बोधनमेतद्धि तच्छ्रुतावेव दर्शितम् ॥

तथाहि :

''नैव इह किञ्चन अग्रे आसीद् मृत्युना इदम् आवृतम् आसीद् अशनायया. अशनाया हि मृत्युः. तद् मनो अकुरुत 'आत्मन्वी स्याम्' इति सो अकामयत 'द्वितीयो मे आत्मा जायेत' इति स मनसा वाचं मिथुनं समभवद्. अशनायाः मृत्युः, तद् यद्रेतः आसीत् स संवत्सरो अभवत्. न ह पुरा ततः संवत्सरः आस. तम् एतावन्तं कालम् अबिभः. यावान् संवत्सरः तम् एतावतः कालस्य परस्ताद् असृजत्. तं जातम् अभिव्याददात्. स 'भाण्' अकरोत् सैव वाग् अभवत्. स ऐक्षत् 'यदि इमम् अंस्ये कनीयो अन्नं करिष्ये' इति स तदा वाचा तेन आत्मना इमं सर्वम् असृजत. यदिदं किञ्च ऋचो यजूंषि सामानि छन्दांसि यज्ञान् प्रजाः पशून्''[९]

बृहदारण्यके चैषा प्रक्रिया समुदाहृता ॥३०॥
महाशनाया प्रलयः स्वस्मिन् सृष्टस्य स्वात्मनि ॥
द्रष्टरि सर्वदृश्यस्यान्तःस्थितिर्योगनिद्रया ॥३१॥

---

८. भाग.पुरा. १०।८४।१२ - १३
९. बृहदा.उप. १।२।१-५

''अत्ता चराचरग्रहणात्''[१०] सूत्रोक्ता मृत्युरूपता॥
पुनर्जागरणे पूर्वं स्वमनोजागरो मतः॥३२॥
मनो नैकाकि रमते वाण्यातस्तस्य मैथुने॥
आविर्भावो नामसृष्टेः तस्याः रूपप्रबोधनम्॥३३॥
प्रधानरूपादव्यक्ताद् आकाशमहतोः[११] सृजिः॥
रूपात्मिका ततश्चैवं साधितेऽवाच्यवाच्यते॥३४॥
उद्बोधश्चात्मनश्चैवमात्मना समपद्यत॥
ब्रह्मवादतिरस्कारोऽन्यथाऽन्येन प्रबोधनम्॥३५॥
सिद्धान्तमुक्तावल्यां तत्कण्ठेनोक्तमेव हि॥
''अपरं तत्र पूर्वस्मिन् वादिनो बहुधा जगुः॥३६॥
मायिकं सगुणं कार्यं स्वतन्त्रं चेति नैकधा॥
तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेर्मतम्''[१२]**॥३७॥**

(ब्रह्मवादीया प्रक्रिया)

ब्रह्मवादप्रक्रियान्ते संक्षिप्योक्ता स्तुतावपि॥
तत्पार्श्वसंस्थिताभिस्तु श्रुतिभिः सृष्ट्युपक्रमे॥३८॥

तथाहि :

''योऽस्योत्प्रेक्षक[क] **आदिमध्यनिधनो**[ख]
योऽव्यक्तजीवेश्वरो[ग]
यः सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य[घ] **ऋषिणा**[ङ]
चक्रे पुरः शास्ति ताः॥
यं सम्पद्य जहात्यजामनुशयी[च]
सुप्तः कुलायं यथा

---

१०. ब्रह्म.सू. १।२।९
११. द्रष्ट. तैत्ति.उप. २।१
१२. सिद्धा.मुक्ता. ४ - ५

तं कैवल्यनिरस्तयोनिम्[छ] **अभयं**[ज]

ध्यायेद् अजस्रं हरिम्''[१३]॥३९॥

संक्षिप्ते ब्रह्मवादेऽस्मिन् बह्म तद् बहुधोदितम्॥

तस्य प्रागनुसन्धानं नूनं बोधोपकारि वै॥४०॥

तथाहि :

दृश्यमानस्य जगतः आद्यो द्रष्टा सएव हि[क]॥

''अग्रे आसीद् ब्रह्म वेदमवेदात्मानमेव तत्॥४१॥

'ब्रह्मास्मी'त्यभवत् सर्वमतो दृश्याखिलं जगत्''[१४]॥

जगतश्चादिमध्यान्तरूपं चापि तदेव हि[ख]॥४२॥

''सर्वं पुरुषएवेदं भूतं च भाव्यमप्युत॥

उतामृतत्वस्येशान यदन्नेनातिरोहति''[१५]॥४३॥

जडजीवेशरूपत्वं त्रैविध्यं चैकब्रह्मणः[ग]॥

तस्य श्रुत्येकगम्यत्वात् स्वीकार्यं वेदवादिभिः॥४४॥

तथाहि :

''क्षरं प्रधानम् अमृताक्षरं हरः क्षरात्मानौ ईशते देवएकः...

भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा

सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्मम् एतत्''[१६]॥४५॥

प्रविश्यान्तर्नियमनं स्वसृष्टानां तथा मतम्[घ]॥

''सृष्ट्वा तदेवानुविशज्जातं सर्वमिदं ततः''[१७]॥४६॥

बृहदारण्यकोक्तापि पुरःसृष्टिस्तथा मता॥

---

१३. भाग.पुरा. १०।८४।५०

१४. बृहदा.उप. १।४।१०

१५. ऋक्संहि. १०।९०।२

१६. श्वेता.उप. १।१० - १२

१७. तैत्ति.उप. २।६

''पुरश्चक्रे तु द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः॥४७॥
पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्''[१८]॥
अन्तर्नियामकत्वं च **''यः पृथिव्यादि''**नोदितम्॥४८॥
''य आत्मनी''त्यन्तं यावत् तत्रान्तर्यामिब्राह्मणे॥
बाह्यं नियामकं रूपं शाब्दं वेदादिकं मतम्[ङ]॥४९॥
तत् श्वेताश्वतराद्युक्तं पुराणस्मृतिभिस्तथा॥
''यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै॥
तं ह देवम् आत्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुः वै शरणम् अहं प्रपद्ये''[१९]॥५०॥
''तदेतत् सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यानि अपश्यन्॥
तानि त्रेतायां बहुधा तानि-तानि आचरथ॥५१॥
नियतः सत्यकामा एष वः पन्था सुकृतस्य लोके''[२०]॥
अंशिन्यंशस्थितिस्तत्र निजांशानां द्विधा मता[च]॥५२॥
ज्ञानाज्ञानप्रभेदाभ्यां मोक्षबन्धकरी इमे॥
इहामुत्रान्यदा जाग्रन्नपि सुप्ताविशेषवत्॥५३॥

तदुक्तं :

''अन्यत्र धर्माद् अन्यत्राधर्माद् अन्यत्रास्मात् कृताकृतात्॥
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत् तत् पश्यसि तद् वद॥
सर्वे वेदा यत्पदम् आमनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति॥
यद् इच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत् ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥

---

१८. बृहदा.उप. २।५।१८
१९. श्वेता.उप. ६।१८
२०. मुण्ड.उप. १।२।१

एतद्धि एव अक्षरं ब्रह्म एतद्धि एव अक्षरं परम्॥
एतद्धि एव अक्षरं ज्ञात्वा यो यद् इच्छति तस्य तत्॥
एतद् आलम्बनं श्रेष्ठम् एतद् आलम्बनं परम्॥
एतद् आलम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते''[२१]॥५४॥

''अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये
विश्वस्य स्रष्टारम् अनेकरूपम्॥
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः''[२२]॥५५॥

उत्पत्तौ पालने चैवं विश्वसंहरणे तथा[छ]॥
न तस्य ईशो हेतुर्वा कैवल्यादेव तस्य हि॥५६॥

''न तस्य कश्चित् पतिः अस्ति लोके
नच ईशिता नैव च तस्य लिंगम्॥
स कारणं कारणाधिपाधिपो
नच अस्य कश्चिद् जनिता नच अधिपः''[२३]॥५७॥

भयाभावैकहेतुं तं नर्ते तं चाभयं क्वचित्[ज]॥

''तमेव विदित्वा अतिमृत्युम् एति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय...
यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः तदा देवम्
अविज्ञाय दुःखस्य अन्तो भविष्यति''[२४]॥५८॥

श्रुतिगीतोपसंहारे ब्रह्मवादनिरूपणम्॥
संक्षिप्योक्तं तदारम्भेऽप्यवधार्यं बुभुत्सुभिः॥५९॥

---

२१. कठोप. १।२।१४ - १७
२२. श्वेता.उप. ५।१३
२३. श्वेता.उप. ६।९
२४. श्वेता.उप. ६।१५ - २०

गायन्त्येतादृशं ब्रह्मवादं हि श्रुतयः स्तवैः॥
श्रावयन्त्यस्तमात्मानं श्राव्यलीलोद्भवाय हि॥६०॥
इदमाशंक्यते चेह वेदो हि द्विविधो मतः॥
कर्मब्रह्मात्मविषयः तत्राद्ये मन्त्रब्राह्मणे॥६१॥

(इहापराशंकासमाधाने)

कर्मप्रतिपादनपरे वेदान्ते ब्रह्मबोधनम्॥
प्रतिपादनन्तु कस्यापि न सदा स्तवनात्मकम्॥६२॥
शौनकोक्तप्रकारेषु मन्त्राणां बहुभेदतः॥॥
न सर्वासां श्रुतीनां वै ब्रह्मस्तुत्यर्थसम्भवः॥६३॥
"स्तुतिः प्रशंसा निन्दा च संशयः परिदेवना॥
स्पृहाशीः कत्थना याच्ञा प्रश्नः प्रैषः प्रवल्हिका॥६४॥
नियोगश्चानुयोगश्च श्लाघा विलपितं च यत्॥
आचिख्यासाथ संलापः पवित्राख्यानमेव च॥६५॥
आहनस्या नमस्कारः प्रतिराधस्तथैव च॥
संकल्पश्च प्रलापश्च प्रतिवाक्यं तथैव च॥६६॥
प्रतिषेधोपदेशौ च प्रमादापह्नवौ च ह॥
उपप्रैषश्च यः प्रोक्तः संज्वरो यश्च विस्मयः॥६७॥
आक्रोशोऽभिष्टवश्चैव क्षेपः शापस्तथैव च॥
उपसर्गो निपातश्च नाम चाख्यातमित्यपि॥६८॥
भूतं भव्यं भविष्यं च पुमान् स्त्री च नपुंसकम्॥
एवं प्रकृतयो मन्त्राः सर्ववेदेषु सर्वशः"[२५]॥६९॥
मन्त्रप्रभेदानविलक्ष्य हन्त
सर्वश्रुतीनां स्तुतिरूपताकथा॥
मन्तुं न योग्या श्रुतिविद्भिरत्र

---

२५. बृह.देव. १।३५-४०

गौण्योपपत्तौतु प्रमाणहानिः ॥७०॥
प्रत्यक्षदृष्टात्तु विरुद्धवाक्ये
गौणश्च शब्दोऽपि भवेन्तु कल्प्यः ॥
श्रुत्येकगम्येतु तथार्थकल्पने
प्रामाण्यसंन्यास वरः श्रुतीनाम् ॥७१॥
तदेतदाक्षेपसमाधानं :
''ब्रह्म अयं वाचः परमे व्योम'' [२६]
''सर्वे वेदाः यत्पदम् आमनन्ति'' [२७]
''सर्वे वेदाः यत्र एकं भवन्ति'' [२८]
इत्येवमादिवचनैः मानमेयस्वरूपयोः ॥
वेदब्रह्मणोरैक्याद् मूलतो न भिदा मता ॥७२॥
लीलयैच्छिकभेदस्तु यः सृष्टौ समजायत ॥

(ब्रह्मश्रुत्योः आधिदैविकाध्यात्मिकेति भेदद्वयम्)
ततोहि द्विविधं रूपमुभयोर्वेद्यं यथायथम् ॥७३॥
वेदस्तुतिः सृष्टिपूर्वरूपब्रह्मस्तुतिः मता ॥
''सर्वाणि रूपाणि विभज्य धीरो
नामानि कृत्वा अभिवदन् यद् आस्ते'' [२९] **॥७४॥**
सृष्ट्यूर्ध्वं तत्र मन्त्राणां बाहुविध्यं न दोषभाग् ॥
अन्यथातु **''यतो वाचो निवर्तन्ते''** [३०] इति श्रुतेः ॥७५॥
''तन्त्वौपनिषदं पुरुषं'' [३१] श्रुत्या हि विरुद्धता ॥

---

२६. ऋक्संहि. १।२२।१६४।३५
२७. कठोप. २।१५
२८. तैत्ति.आर. ३।११।१
२९. तैत्ति.आर. ३।१२।७
३०. तैत्ति.उप. २।४
३१. बृहदा.उप. ३।९।२६

एकस्मादेव बीजात्तु पर्णपुष्पाद्यनन्ता ॥७६॥
अव्यक्ता वै नचेत्तस्मिन् व्यक्तीभावः कुतस्ततः ॥
रूपनामकर्मणां चानन्त्यं लीलाप्रदर्शितम् ॥७७॥
स्वरूपेऽव्यक्तसद्भावो न कुतस्तत्र शक्यते ॥
किञ्चेह शौनकोक्तं हि सावधानधिया श्रुणु ॥७८॥
येन संशयसंच्छेदः कुतः शक्यो न सर्वथा ? ॥
''स्तुवन्तं 'वेद सर्वोऽयम् अर्थयत्येष माम्' इति ॥७९॥
स्तौतीत्यर्थं ब्रुवन्तं च सार्थं 'माम् एष पश्यति' ॥
स्तुवद्भिर्वा ब्रुवद्भिर्वा ऋषिभिः तत्त्वदर्शिभिः ॥८०॥
भवत्युभयमेवोक्तम् उभयं ह्यर्थतः समम्'' [३२] **॥**
''वेदा यथा मूर्तिधरा-स्त्रिपृष्ठ'' [३३] इति न्यायतः ॥८१॥
शब्दरूपश्रुतीनां चाधिदैविकविग्रहः ॥
अंगीकर्तव्यएवेति स्तुतौ नैव विरुद्धता ॥८२॥
अतएवोक्तमाचार्यैः सुबोधिन्यां विचक्षणैः ॥
''काव्यवद् रूपकोक्तौ हि स्पष्टोऽप्यर्थो भवेद् यदि ॥८३॥
कथनं नोचितञ्चैवं श्रीमद्भागवते पुनः'' [३४] **॥**
प्रामाण्यं महदेतद्धि सर्वसन्देहवारकम् ॥८४॥
इयं सृष्टिः श्रुतौ चापि वागुपन्यासपूर्विका ॥
वर्णिता तत्र वाक्कृत्यं स्पष्टं नोपलभामहे ॥८५॥
वेदसन्देह गीतातो गीतासन्देह सूत्रतः ॥
ब्रह्मसूत्रगतः सोऽपि वार्यो भागवतेन हि ॥८६॥
तथाहि :
''प्रजापतिः अकामयत प्रजायेय इति... तस्य चित्तिः
स्रुग् आसीत् चित्तम् आज्यम्. तस्य एतावत्येव वाग्

---

३२. बृह.देव. १।९-१०
३३. भाग.पुरा. १।१९।२३
३४. सुबो. १।१।३

आसीत्... सो अताम्यत् स 'भूः' इति व्याहरत् स भूमिम् असृजत्... स 'भुवः' इति व्याहरत् सो अन्तरिक्षम् असृजत्... स 'सुवः' इति व्याहरत् स दिवम् असृजत्''[३५], ''अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्याद् अन्नसम्भवो यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः कर्म ब्रह्मोद्भवं ब्रह्म अक्षरसमुद्भवं तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्''[३६] ''शब्दइति चेद् न अतः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां (अणुभा. अतः शब्दात् प्रभवात् शब्दोक्तपदार्थानाम्. वेदोक्ताः सर्वएव पदार्था आधिदैविकाएव पुरुषावयवभूताः, सर्वानुकारित्वाद् भगवतः)''[३७], ''यो अविद्यया अनुपहतोऽपि दशार्धवृत्त्या निद्राम् उवाह जठरीकृतलोकयात्रो अन्तर्जले अहिकशिपुस्पर्शानुकूलां भीमोर्मिमालिनि जनस्य सुखं विवृण्वन्, यन्नाभिपद्मभवनाद् अहम् आसम् ईड्य! लोकत्रयोपकरणो यदनुग्रहेण तस्मै नमस्ते उदरस्थभवाय योगनिद्रावसानविकसन्-नलिनेक्षणाय''[३८]

उत्तरोत्तरमानैस्तु पूर्वपूर्वस्फुटार्थता॥८७॥
सुशक्या ह्यवगन्तुं या तथास्यास्तु स्तुतेरपि॥
अतश्चाध्यात्मिकास्वेवं नामरूपस्वभावतः॥८८॥
सर्वासु स्तुतिरूपत्वं यत्तच्छंक्यं न कर्हिचित्॥
श्रुतीनामाधिदैवीभिः सर्वाभिः कारिता स्तुतिः॥८९॥
शंकिता गुणवृत्तीनां निर्गुणे ब्रह्मणि तु या॥

---

३५. तैत्ति.ब्रा. २।२।४।१-३
३६. भग.गीता ३।१४-१५
३७. अणुभा. १।३।२८
३८. भाग.पुरा. ३।९।२०-२१

तत्सागुण्यन्तु दैवीषु नामरूपासु वा भवेत्?॥९०॥
इत्येतस्याः हि शंकायाः समाधानं विधीयते॥
ब्रह्मणो यत्तु नैर्गुण्यं गुणातीतया मतम्॥९१॥
रजस्सत्त्वतमोरूपगुणानां तत्र चोद्भवात्॥
ब्रह्मात्मकत्वं तेषां हि न ब्रह्म त्रिगुणात्मकम्॥९२॥

तथोक्तं :

''पुरुषएवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यं... एतावान् अस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पुरूषः पादो अस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्य अमृतं दिवि त्रिपाद् ऊर्ध्व उदैत् पुरुषः पादो अस्य इह अभवत् पुनः'' [३९]

अतो हि गीतायामपि भगवान् आह यत् स्फुटम्॥

''प्रकृतिं विद्धि मे परां'' [४०] **''मयाध्यक्षेण प्रकृतिः''** [४१] ॥९३॥

''प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि'' [४२] ॥

''कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिः'' [४३] इत्यपि॥९४॥

''ये चैव सात्त्विका भावाः राजसा तामसाश्च ये॥
मत्तएवेति तान् विद्धि नत्वहं तेषु ते मयि'' [४४] ॥९५॥

न गुणानामभावोऽतो ब्रह्मणि शक्यते क्वचित्॥
गुणेषु ब्रह्मणश्चातः परिच्छेदो निषिध्यते॥९६॥
शब्दरूपश्रुतीनां हि व्यक्तिः विषयतापिच॥
गुणेषु गुणवृत्तित्वं लीलया निर्गुणेऽपि च॥९७॥

---

३९. ऋक्.संहि.१०।९०।२-४
४०. भग.गीता ७।५
४१. भग.गीता ९।१०
४२. भग.गीता १३।१९
४३. भग.गीता १३।२०
४४. भग.गीता ७।१२

अतो नानुपपत्तिर्हि प्रश्ने वा तत्समाहतौ॥
श्रुतिगीतासमाख्याता उपपन्नमतोऽखिलम्॥९८॥
श्रुतीनां तं स्तुवन्तीनां दैवीनां नामशब्दतः॥
आनुरूप्यं निरूप्यं हि तत्तद्योजनया पुनः॥९९॥
तत्तत्कारिकायां तत्कृपालब्धैकबुद्धिना॥
उपक्रमोपसंहारविमर्शादेकवाक्यता॥१००॥

(उपसंहारः)

निरूपिता श्रुतिस्तुत्याः लघुटीकाविचिन्तने॥
क्षमन्तु श्रीमदाचार्याः अन्यथाचिन्तितं मम॥१०१॥

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण कृता
श्रुतिगीतालघुटीका कारिकाविवक्षितश्रुतियोजनोपेता
सम्पूर्णा

उद्धृतवचनानुक्रमणिका

अखिल-निगम-निजजन-संस्तुताय	(त्रि.ना.रा.ली.१०७)	११५
अखिलभुवनजन्मस्थेमभंगादि लीले	(श्रीभाष्य मंग.)	७७
अग्रे आसीद् ब्रह्म	(बृह.उप.१।४।१०)	२०१
अणो अणीयान् महतो महीयान्	(श्वेता.उप.३।२०)	७९
अतः शब्दात् प्रभवात्	(अणुभा.१।३।२८)	२०७
अतः स्वप्रकाशमेव ब्रह्म	(सुबो.१०।८४।१)	१६७
अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिः	(सि.मु.१२)	१००
अत्ता चराचरग्रहणात्	(ब्र.सू.१।२।९)	२००
अत्यन्तासत्यपि हि अर्थे	(श्लो.वार्ति.१।१।२।६)	१५८,१९६
अथ यद् असन्दिग्धं	(ब्र.सू.शां.भा.भामती.१।१।१)	१५८
अथातो धर्ममीमांसा	(जै.मी.सू.१।१।१)	५०,६०, ८५,८६,१४५
अनन्तगुणपूर्णो हि हरिः	(सुबो.कारि.१०।८४।५)	१९७
अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये	(श्वेता.उप.५।१३)	२०३
अनिर्देश्यं	(कठोप.२।२।१४)	१८९
अन्तरंगा इयं भगवच्छक्तिर्	(सुबो.१०।८४।१४)	१७६
अन्तरंगे कार्ये कर्तव्ये सति	(पाणि.सू.६।१।१७)	१७७
अन्नं 'ब्रह्म'इति व्यजानात्	(तैत्ति.उप.३।२)	१०३
अन्नाद् भवन्ति भूतानि	(भग.गीता ३।१४)	२०७
अन्यत्र धर्माद् अन्यत्राधर्माद्	(कठोप.१।२।१४)	२०३
अपरं तत्र पूर्वस्मिन्	(सिद्धा.मुक्ता.४)	२००
अवाच्य सर्वशब्दानां बुद्धया	(सुबो.कारि.१०।८४।९)	१६८
अवाच्यं वाच्यम् इति वा	(न्या.सि.३।४६)	६६
अष्टत्रिंशे श्रुतीनां हि यथा	(सुबो.कारि.१०।८४।८)	१६४,१९६
अष्टाविंशति तत्त्वानां स्वरूपं	(त.दी.नि.१।९३)	१११
अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम	(सि.ले.सं.२।८)	९५

अस्य महतो भूतस्य	(बृह.उप.२।४।१०)	१९५
'अहं'नामाभवत्	(बृह.उप.१।४।१)	६३
आत्मद्योतै गुणैः छन्नमहिम्ने	(भाग.पुरा.१०।१०।३३)	१८२
आत्मैव इदम् अग्रे आसीत्	(बृह.उप.१।४।१)	१९४
आदौ अन्ते च यन् न अस्ति	(माण्डू.उप.गौड.कारि.२।६)	७१
आनन्दादय प्रधानस्य	(ब्र.सू.३।३।११)	१७८
आनीद् अवातं स्वधया	(ऋक्.संहि.१२९।१७।२)	१८८
आविर्भावतिरोभावैः मोहनं	(त.दी.नि.१।७२)	३५
आश्रयरूपं मुख्यम् अविकृतं	(सुबो.३।४।१)	१९५
इदं हि विश्वं भगवान्इव इतरः	(सुबो.का.१।५।२०)	९९
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते	(बृह.उप.२।५।१९)	१०२
ईश्वरस्यापि ईशितव्यापेक्षणात्	(सुबो.३।९।९)	८४
ईश्वरानुग्रहादेव पुंसाम् अद्वैत	(खण्ड.ख.१।२४)	८०
एक विज्ञानेन सर्वम् इदं	(मुण्ड.उप.१।१।३)	१६८
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति	(ऋक्.संहि.१।१६४।४६)	६४
एकमेवाद्वितीयं	(छान्दो.उप.६।२।१)	९३,१८९
एको अहं बहु स्यां प्रजायेय	(छान्दो.उप.६।२।३)	६१,१२७
कथा इमास्ते कथिता महीयसां	(भाग.पुरा.१२।३।१४)	१११
कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः	(भग.गीता १३।२०)	२०८
काव्यवद् रूपकोक्तौ हि	(सुबो.१।१।३)	२०६
किं ब्रह्म श्रुतिसिद्धं त्वया	(सुबो.१०।८४।२)	१६८
कृष्णस्य आत्मरतौ त्वस्य	(त.दी.नि.१।२४)	१८१
क्षरं प्रधानम् अमृताक्षरं	(श्वेता.उप.१।१०)	२०१
चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च	(सुबो.१०।१।०।२)	१०७
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं	(माध्यमिककारिका.१।७)	७६
चत्वारि वाक्परिमिता पदानि	(ऋक्.संहि.१।१६४।४५)	६३
जगद्व्यापारवर्जम्	(ब्र.सू.४।४।१७)	१७८
जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्	(ब्र.सू.१।१।२)	४८,५१, ६०

जय जय जहि अजाम्	(भाग.पुरा.१०।८७(=८४)।१४)	५१,१७४,१८०
जीव ईशो विशुद्धा चिद्	(सिद्धा.ले.सं.१।१७)	१७९
जीवधर्मरूपेयं प्रकृतिः इति	(सुबो.१०।८४।१४)	१७६
ज्ञानम् एकं पराचीनै इन्द्रियै	(सुबो.३।३२।२८)	१८८
तत्र उपपत्ति प्रष्टव्या	(सुबो.का.१०।८४।३)	१००
तत्र किं बृहद् वेदानां	(सुबो.१०।८४।१)	१६४
तत्र मूलभूतं सर्वव्यवहारातीतमपि	(सुबो.१०।८४।२)	१६९
तत्सादृश्यं तदभावश्च	( )	१६१
तत्सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्	(तैत्ति.उप.२।६।१)	११८
तत् त्वम् असि	(छान्दो.उप.६।८।७)	८८
तथापि साङ्ख्यसिद्धांते तथा	(सुबो.का.१०।८४।७)	१०२
तदन्ते बोधयान् चक्रु तल्लिंगैः	(भाग.पुरा.१०।८७(=८४)।१२)	१२५
तदपि रूपं विराड्इव अनन्तम्	(सुबो.३।४।१)	१४७
तदेतत् सत्यं मन्त्रेषु	(मुण्ड.उप.१।२।१)	२०२
तद्धेदं तर्हि अव्याकृतम्	(बृह.उप.१।४।७)	१९४
तन्त्वौपनिषदं पुरुषं	(बृह.उप.३।९।२६)	२०५
तन्मनो अकुरुत आत्मन्वी स्याम्	(बृह.उप.१।२।१)	८९
तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व	(तैत्ति.उप.३।१)	६४
तमेव विदित्वा अतिमृत्युम्	(श्वेता.उप.६।१५)	२०३
तस्मात् पुरुषः ओषति	(बृह.उप.१।४।१)	१९४
तस्माद् वा एतस्माद् आत्मनः	(तैत्ति.उप.२।१)	२९,३५
तस्माद् वा एतस्माद् अन्योन्तर	(तैत्ति.उप.२।२)	१०३
त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म	(बृह.उप.१।६।१)	१९४
त्रीणि आत्मने अकुरुत	(बृह.उप.१।५।३)	१९७
न असद् आसीद् नो सद्	(ऋक्.संहि.१०।१२९।१)	५६
न इह नाना अस्ति किञ्चन	(कठोप.२।१।११)	११३

न तस्य कश्चित् पति	(श्वेता.उप.६।९)	२०३
न तस्य कार्यं करणं च विद्यते	(श्वेता.उप.६।८)	८२
न ब्रह्मणान् मे दयितं	(भाग.पुरा.१०।८६(=८३)।५४)	१३४
न सोऽस्ति प्रत्ययो	(वाक्यपदीय.१।११५)	१९५
नमो गुणप्रदीपाय	(भाग.पुरा.१०।१६(=१३)।४६)	१९४
नमो भगवते तस्मै	(त.दी.नि.१।१)	३९
नश् अदर्शनि	(पाणि.धा.पा.११९४)	१८२
नहि प्रज्ञापेता वाङ्नाम	(कौ.ब्रा.उप.३।६)	६७,६८, १९५
नानावादानुरोधाय वाच्यवाचक	(भाग.पुरा.१०।१६(=१३)।४३)	१९४
निगमकल्पतरो गलितं फलं	(भाग.पुरा.१।१।३)	५५
नित्यानित्यवस्तुविवेकः इहामुत्रार्थ	(ब्र.सू.शां.भा.१।१।१)	८५
निरुक्तञ्च अनिरुक्तञ्च	(तैत्ति.उप.२।६)	९१
निस्वभावा शशिविषाणवत्	(सुबो.१०।८४।१४)	१७६
नैव इह किञ्चन अग्रे	(बृह.उप.१।२।१)	१२२,१९९
अग्रे आसीत्	(बृह.उप.१।२।१)	११२
पदानां संकेत लौकिकएव	(सुबो.१०।८४।१)	१६६
पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभू	(कठोप.२।१।१)	१२६
पुरश्चक्रे तु द्विपदः	(बृह.उप.२।५।१८)	२०२
पुरुषएव इदं सर्वं यद् भूतं	(ऋक्.संहि.१०।९०।२)	६४,१३६, १८१
प्रकृतिं पुरुषं चैव	(भग.गीता १३।१९)	२०८
प्रकृतिं विद्धि मे परां	(भग.गीता ७।५)	२०८
प्रजापतिः अकामयत प्रजायेय	(तैत्ति.ब्रा.२।२।४।१)	२०७
प्रज्ञया वाचं समारुह्य	(कौ.ब्रा.उप.३।६)	१९५
प्रज्ञानं ब्रह्म	(ऐत.उप.५।४)	१९१
प्रतिकूले गृहं त्यजेत्	(पंचश्लोकी.३)	११८
प्रत्यक्षं च अनुमानं च शास्त्रं	(मनुस्मृ.१२।१०५)	७०

प्रमाणं ब्राह्मण: प्रोक्त: प्रमेयमपि	(सुबो.का.१०।८४।२)	१००
प्राकृतधर्मानाश्रयम् अप्राकृतनिखिल	(सर्वो.स्तो.१)	८४,१५७
प्राकृता: श्रुतय: सर्वा	(सुबो.का.१०।८४।१०)	१८४
बहिश्चेत् प्रकट स्वात्मा वह्निवत्	(सं.नि.११)	१०६
बुद्धीन्द्रियमन:प्राणान्	(भाग.पुरा.१०।८७(=८४)।२)	१९७
बृहत्वाद् बृंहणत्वाद् तद् 'ब्रह्म'	(विष्णुपुरा.३।३।२१)	९४
बृहन्तो यस्य गुणा	(द्र.वेदान्तसार.उपोद्घात)	९४
ब्रह्म अयं वाच	(ऋक्.संहि.१।२२।१६४।३५)	२०५
ब्रह्मइति 'परमात्मा'इति	(त.दी.नि.१।६)	५४
ब्रह्मण इति न कर्मणि-षष्ठी	(ब्र.सू.भा.१।१।१)	८७
ब्रह्म ते हृदयं शुक्लम्	(भाग.पुरा.१०।८३(=८१)।१९)	१३१
ब्रह्मन् ब्रह्मणि अनिर्देश्ये	(भाग.पुरा.१०।८७(=८४)।१)	५२, १७०,१९६
ब्रह्मवाद: सुसंवृत्त:	(भाग.पुरा.१०।८७(=८४)।१०)	५२
ब्रह्मवादे निरुक्तिस्तु न	(पत्राव.३)	९३,१९७
ब्रह्मविद् आप्नोति परम्	(तैत्ति.उप.२।१)	८६
भगवद्रूपां भगवत्त्वेन निरूपयन्ति	(सुबो.१०।८४।१४)	१७५
मतान्तरोक्ति एषा हि	(सुबो.का.१०।८४।५)	१०१
मयाध्यक्षेण प्रकृति	(भग.गीता ९।१०)	२०८
मां विधत्ते अभिधत्ते मां	(भाग.पुरा.११।२१।४३)	६२,६४,१९४
यतो वा इमानि भूतानि	(तैत्ति.उप.३।१)	२९,३५,९३
यतो वाचो निवर्तन्ते	(तैत्ति.उप.२।९)	४५,१८९
यतो वाचो निवर्तन्ते	(तैत्ति.उप.२।४)	२०५
यत् किञ्चिद् दूषणन्तु अत्र	(सुबो.२।९।३२)	११९
यथा अग्ने: विस्फुलिंगा	(बृह.उप.२।१।२०)	६१,७९
यथा भूतानि भूतेषु खं	(भाग.पुरा.१०।४७(=४४)।२९)	१९४
यद्-यद् धिया त उरुगाय	(भाग.पुरा.३।९।११)	८१
यद् वाचा अनभ्युदितं येन वाग्	(केनोप.१।४)	९८

यमेव एषः वृणुते तेन	(कठोप.१।२३)	३४
यस्मात् क्षरम् अतीतो अहम्	(भग.गीता १५।१८)	९९
युक्तं भगैः स्वैः इतरत्र च	(भाग.पुरा.२।९।१६)	९६,१६३
ये चैव सात्त्विकाः भावाः	(भग.गीता ७।१२)	२०८
यो अन्तः प्रविश्य मम	(भाग.पुरा.४।९।६)	९८
यो अविद्यया अनुपहतोऽपि	(भाग.पुरा.३।९।२०-२१)	२०७
यो ब्रह्मवाद पूर्वेषां	(भाग.पुरा.१०।८७(=८४)।८)	१९८
यो ब्रह्माणं विदधाति	(श्वेता.उप.६।१८)	१९५, २०२
यो वै भूमा तत्सुखं	(छान्दो.उप.७।२३।१)	९५
योऽस्योत्प्रेक्षकः	(भाग.पुरा.१०।८७(=८४)।५०)	२०१
रूपं-रूपं प्रतिरूपं बभूव तद्	(बृह.उप.२।५।१९)	१२५
लौकिकत्वे ब्रह्मणो लौकिक	(सुबो.१०।८४।१)	१६७
वह्निना सञ्चति इत्यपि	(त.दी.नि.प्र.२।१७३)	६९
वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थ	(रघुवंश.१।१)	१३२
विजिज्ञासीत नो वाचं	(कौषी.उप.३।८)	१९५
विशुद्धसत्त्वधाम्नि अद्धा	(भाग.पुरा.१०।८४(=८१)।४२)	१३०
वेदाः यथा मूर्तिधराः	(भाग.पुरा.१।१९।२३)	२०६
वेदाभ्यासाद् भवेद् विप्रः	( )	१३२
वेदैश्च सर्वैं अहमेव वेद्य	(भग.गीता १५।१५)	९८,१३१
शब्दज्ञानानुपातिवस्तुशून्यो	(पा.यो.सू.१।९)	९०
शब्दब्रह्मव्यतिरेकेण परब्रह्मणः	(सुबो.३।१२।४६)	१४७
शब्दार्थयोः उत्तमयोः सम्बन्धो	(सुबो.का.१०।८४।१)	९८,१६२
शास्त्रयोनित्वात्	(ब्र.सू.१।१।२)	८७
शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणे	(त.दी.नि.३।१।२)	५४
शुकोऽपि श्रुतिगीताप्रतिपाद्यम्	(सुबो.१०।८४।५०)	१०७
शेमुषी भक्तिरूपा	(ब्र.सू.रा.श्रीभा.मं.)	८६
श्रीकृष्णं परमानन्दं दशलीला	(त.दी.नि.३।१।१)	५४

श्रुति-स्मृती ममैव आज्ञे	( )	११५
श्रुतिगीता यशः प्राह	(त.दी.नि.३।१०।४४९)	११२
स 'अहं' नामा अभवत्	(बृह.उप.१।४।१)	१५२
स इममेव आत्मानं द्वेधा	(बृह.उप.१।४।३)	७२,१०५
सगुणं चेद् वेदवाक्यं ब्राह्मणा	(सुबो.का.१०।८४।४)	१००
स भूरिति व्याहरत्	(तैत्ति.ब्रा.२।२।४।२)	१९५
स वै नैव रेमे	(बृह.उप.१।४।३)	१९४
सत्त्वं रजस्तम इति त्रिवृद्	(भाग.पुरा.११।३।३७)	१८२
सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्	(भग.गीता १४।१७)	४२
सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म	(तैत्ति.उप.२।१)	१३१,१३८ १९५
सन्देहवारकं शास्त्रं	(ब्र.सू.भा.का.१।१।१)	८६
समानाश्रयम् असिद्धं	(पाणि.सू.महाभा.६।४।२२)	१२७
सर्वं खलु इदं ब्रह्म	(छान्दो.उप.३।१४।१)	१२७
सर्वं पुरुषएवेदं भूतं च	(ऋक्.संहि.१०।९०।२)	२०१
सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्	(ब्र.सू.१।२।१)	१४२
सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि	(त.दी.नि.१।७०)	४०
सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो	(भाग.पुरा.१०।८५(=८३)।५४)	१३०,१३४
सर्वश्रुतिनिरूपितः	(पु.ना.स.२३२)	११२
सर्वाणि रूपाणि विचित्य	(तैत्ति.आर.३।१२।७)	११४,१६५, १८७,२०५
सर्वारम्भा हि दोषेण	(भग.गीता १८।४८)	११९
सर्वे वेदाः यत्पदम् आमनन्ति	(कठोप.१।२।१५)	१३१,२०५
सर्वे वेदा यत्र एकं	(तैत्ति.आर.३।११।१)	२०५
सर्वेषान्तु स नामानि	(मनुस्मृ.१।२१)	१९५
सर्वोऽपि 'आत्मा'स्तित्वं	(ब्र.सू.शां.भा.१।१।१)	१५०
स ह एतावान् आस	(बृह.उप.१।४।३)	१२७
सहस्रधा पञ्चशान्युक्था यावद्	(ऋक्.संहि.१०।११४।८)	६६

सृष्ट्वा तदेवानुविशज्जातं	(तैत्ति.उप.२।६)	२०१
सैषा ह्युपनिषद् ब्राह्मी	(भाग.पुरा.१०।८७(=८४)।३)	१६९
सो अनुवीक्ष्य न अन्यद्	(बृह.उप.१।४।१)	८९
स्तुति प्रशंसा निन्दा च	(बृह.देव.१।३५-४०)	२०४
स्तुवन्तं वेद सर्वोऽयम्	(बृह.देव.१।९)	२०६
स्वतन्त्रतया प्रकृतिं प्रतिपादयन्ति	(सुबो.१०।८४।१४)	१७५
स्वसृष्टम् इदम् आपीय	(भाग.पुरा.१०।८७(=८४)।१२)	११५,१२२,१६३, १७०,१७३,१९९

उद्धृतग्रन्थसंकेततालिका

अणुभा.	ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्
ऋक्.संहि.	ऋग्वेदसंहिता
ऐत.उप.	ऐतरेयोपनिषत्
कठोप.	कठोपनिषत्
केनोप.	केनोपनिषत्
कौ.ब्रा.उप.	कौषीतकिब्राह्मणोपनिषत्
खण्ड.ख.	खण्डनखण्डखाद्य
छान्दो.उप.	छान्दोग्योपनिषद्
छान्दो.ब्रा.	छान्दोग्यब्राह्मणम्
जै.मी.सू.	जैमिनिमीमांसासूत्रम्
त.दी.नि.	तत्त्वार्थदीपनिबन्धः
त.दी.नि.प्र.	तत्त्वार्थदीपनिबन्धप्रकाशः
तैत्ति.आर.	तैत्तिरीयारण्यकम्
तैत्ति.ब्रा.	तैत्तिरीयब्राह्मणम्
तैत्ति.उप.	तैत्तिरीयोपनिषद्
तैत्ति.ब्रा.	तैत्तिरीयब्राह्मणम्
त्रि.ना.रा.ली	त्रिविधनामावलीराजलीला
न्या.सि.	न्यायसिद्धाञ्जनम्
पंचश्लोकी	
पत्राव.	पत्रावलम्बनम्
पा.धा.पा.	पाणिनिधातुपाठः
पाणि.सू.	पाणिनिसूत्रम्
पाणि.सू.महाभा.	पाणिनिसूत्रमहाभाष्यम्
पा.यो.सू.	पातञ्जलयोगसूत्रम्
पु.ना.म.	पुरुषोत्तमनामसहस्रं स्तोत्रम्

बृह.उप.	बृहदारण्यकोपनिषद्
बृह.देव.	बृहद्देवता
ब्र.सू.	ब्रह्मसूत्रम्
ब्र.सू.भा.	ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्
ब्र.सू.रा.श्रीभा.मं.	ब्रह्मसूत्रम् रामानुजाचार्यश्रीभाष्यम् मंगलाचरणम्
ब्र.सू.शां.भा.	ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्
ब्र.सू.शां.भा.भामती	ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् भामतीकारः
भग.गीता.	श्रीमद्भगवद्गीता
भाग.पुरा.	श्रीभागवतपुराणम्
मनुस्मृ.	मनुस्मृतिः
माण्डू.उप.गौड.कारि. माध्यमिककारिका	माण्डूक्योपनिषत्गौडपादकारिका
मुण्ड.उप.	मुण्डकोपनिषद्
रघुवंश	रघुवंशम्
वाक्यपदीय.	वाक्यपदीयम्
विष्णुपुरा.	विष्णुपुराणम्
वेदान्तसारउपोद्घात	
श्रीभाष्य.मं.	श्रीभाष्यम् मंगलाचरणम्
श्लो.वार्ति.	श्लोकवार्तिकम्
श्वेता.उप.	श्वेताश्वतरोपनिषद्
सं.नि.	संन्यासनिर्णयः
सिद्धा.मुक्ता.	सिद्धान्तमुक्तावली
सि.ले.सं.	सिद्धान्तलेशसंग्रहः
सुबो.	सुबोधिनी
सुबो.कारि.	सुबोधिनीकारिका